तोड़ो ग़ुलामी की ज़ंजीरें

1857 : विमर्श, लोक-स्मृति और साहित्य

संपादक

अरुण प्रकाश

तोड़ो ग़ुलामी की ज़ंजीरें

1857 : विमर्श, लोक-स्मृति और साहित्य

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

तोड़ो ग़ुलामी की ज़ंजीरें

1857 : विमर्श, लोक-स्मृति और साहित्य

संपादक

अरुण प्रकाश

साहित्य अकादेमी

Todo Ghulami Ki Zanjeeren : Selected Papers presented in the national seminar on 'The Rising 1857 : Colonialism, Literature and March to Freedom' organised by Sahitya Akademi on 20-25 March 2007 at New Delhi, edited by Arun Prakash, Sahitya Akademi, New Delhi (2008) Rs. 80.00

प्रथम संस्करण : 2008

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली-110 001

विक्रय विभाग, 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली-110 001

बेवसाइट : http://www.sahitya-akademi.gov.in

ई-मेल : sahityaakademisales@vsnl.net

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स., डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता-700 053

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलुरु-560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304) अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई-600 018

ISBN 978-81-260-2346-2

मूल्य : 80 रुपए

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032

अनुक्रम

क़ौमी तराना

*अज़ीमुल्ला ख़ाँ**

हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा।
पाक वतन है क़ौम का, जन्नत से भी प्यारा॥
ये है हमारी मिल्कियत, हिन्दुस्तान हमारा।
इसकी रूहानियत से, रौशन है जग सारा॥

कितनी क़दीम, कितनी नईम, सब दुनिया से न्यारा।
करती है ज़रख़ेज़ जिसे, गंगो-जमन की धारा॥
ऊपर बर्फ़ीला पर्वत पहरेदार हमारा।
नीचे साहिल पर बजता सागर का नक़्क़ारा॥

इसकी खानें उगल रहीं सोना, हीरा, पारा।
इसकी शान-शौकत का दुनिया में जयकारा॥
आया फ़िरंगी दूर से, ऐसा मंतर मारा।
लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा॥

आज शहीदों ने तुमको, अहले वतन ललकारा।
तोड़ो ग़ुलामी की ज़ंजीरें, बरसाओ अंगारा॥
हिन्दू मुस्लिम सिख हमारा, भाई-भाई प्यारा।

---

* अज़ीमुल्ला ख़ाँ मशहूर वकील थे। उन्होंने लंदन जाकर ताँत्या टोपे का भी मुक़दमा लड़ा था। देश-विदेश घूमे। इस देशभक्त को संग्राम का रणनीतिकार माना जाता है। कहते हैं, इस तराने को लिखने के समय उन्होंने ताँत्या टोपे से भी मशविरा किया था। मेरठ में इसी गीत के साथ विद्रोही सैनिकों ने प्रयाण किया था। यह तराना पयाम-ए-आज़ादी में प्रकाशित है।

पूर्वपीठिका

1857 के संग्राम को विद्रोह, ग़दर, बग़ावत, स्वाधीनता संग्राम या क्रांति कहें, इस पर इतिहासकारों के मत अलग-अलग रहे हैं। इन मतों के पीछे उनकी ऐतिहासिक दृष्टि और वर्ग-स्वार्थ रहे हैं। किसी-किसी में तो औपनिवेशिक मानसिकता भी रही है। 1957 में इसकी सौवीं जयंती मनाई गई और राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन किए गए; लेकिन तब भी इससे संबंधित दस्तावेज़ों और दूसरे साक्ष्यों को जमा करने, संपादित करने और प्रकाशित करने का काम पूर्ण रूप से नहीं किया गया। जो हुआ, उसे आधा-अधूरा ही कहेंगे। इससे संबंधित दस्तावेज़ और दूसरे साक्ष्य अधिकांशतः उपनिवेशवादियों ने ही लिखे, बनाए और संरक्षित किए। ज़ाहिर है, इसे अपना रंग देने में वे कामयाब भी रहे। निश्चय ही इन उपलब्ध साक्ष्यों का विश्लेषण करने से पहले हमें अपनी दृष्टि का ग़ैर-उपनिवेशीकरण करना चाहिए; तभी इन साक्ष्यों के बीच मौजूद परस्पर-विरोधी तथ्यों, मौन साक्ष्यों औंर इतिहास से बाहर कर दी गई आवाज़ों को सुना जा सकता है। लेकिन इस बार 1857 को लेकर जो उपक्रम, आयोजन किए गए उसकी व्याप्ति बड़ी रही है।

पिछले 50 वर्षों में बौद्धिक जगत के मानस में कई नए दृष्टिकोण भी शामिल हुए हैं, जिनमें दलितों, स्त्रियों, वंचितों, शोषितों और हाशियाकृत लोगों और उनकी सामाजिक सहभागिता को सम्मान के साथ देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। लिहाज़ा गंगू मेहतर, झलकारी बाई तथा उनके पति पूरणपोरी, बिजली पासी, अवंती बाई लोदी, मातादीन भंगी, महावीरी देवी, लोचन मल्लाह, ऊदा देवी और उनके पति मक्का पासी, पन्ना दाय, चेतराम जाटव, बल्लू मेहतर, बाँके चमार, गंगू मेहतर, वीरा पासी आदि नाम सामने आए हैं, जो 50 वर्ष पूर्व हुए 1857 के विमर्श में सुनाई नहीं दिए थे। इस बार हमारे इतिहास के उस गौरवशाली परिघटना के अनेक विस्मृत नायक-नायिकाएँ मंच पर उपस्थित हैं।

कुँवर सिंह की हार के बाद पटना में चले मुक़दमे के दस्तावेज़ में पिछड़ी जाति के एक सैनिक का बयान मुक़दमे के रिकॉर्ड में दर्ज है। उसी सैनिक रजित राम

की आवाज़ सुनिए : ''मेरा नाम रजित राम है। जाति से ग्वाला हूँ। मैं 40 पलटन की पहली कंपनी का हवलदार था, जिसका काम तनख़्वाहें बाँटना था। मेरे पिता का नाम परसन राम है। मैं गाँव शाहपुर, परगना शाहपुर, ज़िला शाहाबाद का रहनेवाला हूँ। 25 जुलाई 1857 को मैंने दानापुर, पटना की क्रांति में हिस्सा लिया।''

बहुधा यह माना जाता रहा है कि दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के पंजाब तथा पूर्व के असम और बंगाल ने इस संग्राम में योद्धाओं का साथ नहीं दिया था। इतना ही नहीं, यह भी माना जाता रहा है कि पंजाब के सिख सैनिकों ने इसके दमन में हिस्सा लिया था। ऐसा पहली बार हो रहा है कि ये सब भ्रम प्रमाण के बूते तोड़े जा रहे हैं। इजनाला (पूर्वी पंजाब) में सिखों ने विद्रोह कर दिया तो अंग्रेज़ों ने उन्हें मार डाला और उन सबों को एक् कुएँ में फेंक दिया और इस कुएँ को नाम दिया 'दुष्ट विद्रोहियों का कुआँ।' गुजरात में स्थानीय लोगों ने कुछ सामंतों के सहयोग से विद्रोह किया। महाराष्ट्र में ऐसी घटनाएँ हुईं। असम में और दक्षिण के दूसरे राज्यों में छिटपुट घटनाएँ हुईं। इसलिए जो लोग इसे 'राष्ट्रीय' संग्राम मानने में आपत्ति करते हैं, उन्हें यह बौद्धिक ज़िद तो छोड़ ही देनी चाहिए।

इस विद्रोह के चरित्र को लेकर कुछ विद्वानों की सोच यह भी रही है कि यह देश की आज़ादी की लड़ाई न होकर धर्म आधारित सामंती व्यवस्था को बचाने की लड़ाई थी, जिसमें देश तो महज़ एक बहाना था। हिन्दी के प्रख्यात गाँधीवादी उपन्यासकार अमृतलाल नागर ने इस हिंसक विद्रोह पर दो पुस्तकें लिखीं : *आँखों देखा ग़दर* तथा *ग़दर के फूल।* पहली पुस्तक एक मराठी कृति *माझा प्रवास* का अनुवाद है। *ग़दर के फूल* के लिए वे अवध में घूमे और इस संग्राम में हिस्सा लेने वालों के परिवार वालों से मिले। उन्हें ढेर नए तथ्य तथा *जंगनामा* जैसे दस्तावेज़ी पुस्तकें तक मिलीं। पहले वे इस संग्राम को सामंतों का विद्रोह मानते थे, पर ज़मीनी शोध से उनका नज़रिया बदल गया। उन्होंने *ग़दर के फूल* (पृष्ठ 45) में लिखा है : ''औरों की क्या कहूँ, स्वयं मेरी ही यह धारणा थी कि ग़दर में भाग लेने वाले सामंत अपने-अपने स्वार्थों के लिए लड़े, इनका कोई संगठन नहीं था। परंतु अवध के इन छोटे-बड़े सामंतों और बिहार के बाबू कुँवर सिंह के संगठन को देखकर मेरी पूर्वधारणा ग़लत सिद्ध हो जाती है।'' इसे प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम कैसे कहा जा सकता है, जबकि उसकी संरचना सवर्ण सामंती आधिपत्य पर टिकी हुई थी और उसमें ग़ैर-सवर्णों के प्रवेश तक पर रोक थी ? ऐसे विद्वान इसे राष्ट्रवादी भावुकता के इर्द-गिर्द बुना हुआ एक मिथक मानते हैं। ऐसी परिघटनाएँ काग़ज़ पर रहें तो बौद्धिकों को सहूलियत रहती है। क्रांति या विद्रोह सचमुच हो जाए तो बौद्धिक डर

जाते हैं। एक संगत उदाहरण देना आवश्यक लगता है—रूस में जब क्रांति हुई तो वहाँ के केन्द्रीय बैंक के क्रांति प्रेमी बैंक कर्मचारी बैंक की चाबियाँ लेकर भाग गए। उन्हें आशंका थी कि लेनिन उनका वेतन कम कर देंगे। उनका वेतन कम नहीं किया गया, फिर भी वे चार महीने तक काम पर न लौटे; फिर अनेक अपीलों के बाद वे काम पर वापस आए। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि 1857 यदि सफल हो जाता तो सामंतवादी व्यवस्था और मज़बूत हो जाती, सवर्ण ग़ैर-सवर्णों, विशेषकर दलितों, का दमन करने में सक्षम हो जाते। क्या यही सच है कि इसमें सिर्फ़ सवर्णों ने हिस्सा लिया? रानी लक्ष्मीबाई की संगिनी योद्धा झलकारी बाई पर पूरी पुस्तक लिख चुके दलित चिन्तक लेखक मोहनदास नैमिशराय ने भारत भवन, भोपाल में मई 2008 में आयोजित एक परिसंवाद 'सृजन और संग्राम' में कहा, ''दलितों ने क्रांतिकारियों के लिए रसद जुटाई, मशाल जगाई, हरकारे बन संग्राम की कहानियाँ देशभर में फैलाते रहे, पर उनका नाम कहीं दर्ज नहीं हुआ।'' (हिन्दी *इंडिया टुडे*, 28 मई 2008, पृ. 63)

उपलब्ध दस्तावेज़, विशेषकर शाही फ़रमान, के अध्ययन से साफ़ ज़ाहिर होता है कि यदि विद्रोह सफल होता तो सत्ता की संरचना सिर्फ़ सवर्णों और सामंतों के ही हितसाधन के लिए नहीं होती। उसमें आयात से परेशान दस्तकार, व्यापारी, दूसरे लोगों के लिए भी जगह थी; क्योंकि विद्रोह के प्रतीकात्मक नेता बेशक सामंत ही थे, लेकिन उसमें भागीदारी जनता की थी। यदि जनता की भागीदारी नहीं होती तो बहादुरशाह हों, रानी लक्ष्मीबाई हों या कुँवर सिंह, ये प्रतीक ही रह जाते। सैकड़ों सामंतों में उँगली पर गिने जाने लायक़ सामंत प्रतीकात्मक नेता बनने के लिए आगे आए। इसमें से कइयों के पास तो अपनी सेना तक नहीं थी। अगर थी भी तो 100-150 जवानों वाली। पर उन्होंने बड़ी सेनाएँ खड़ी कर लीं। सब जानते हैं कि सेनाएँ यूँ ही नहीं खड़ी होती हैं। उसके लिए धन, साधन और जन-समर्थन चाहिए। रसद तो जनता ही देगी। यातायात के साधन और जनबल जनता से ही प्राप्त होंगे। यह यदि सिपाही विद्रोह था तो जन-विद्रोह भी था। यदि हम दिल्ली के हालात पर लिखे गए ब्यौरों पर यक़ीन करें तो पता चलेगा कि मेरठ में सिर्फ़ दो रेजीमेंटों ने विद्रोह किया था। एक आम आकार की सेना की रेजीमेंट में 500 से लेकर 1100 तक सैनिक होते हैं। संख्या को अधिकतम ही मानें तो जिन दो विद्रोही रेजीमेंटों ने दिल्ली की ओर कूच किया, उनमें 2200 सैनिक रहे होंगे। पर देसी स्रोत यह बताते हैं कि दिल्ली शहर के अंदर लगभग 12000 से लेकर 15000 तक विद्रोहियों ने प्रवेश किया। देसी स्रोत यह भी बताते हैं कि वे पेशेवर सैनिक नहीं थे, वे पश्चिमी उत्तर

प्रदेश के किसान थे, कमेरे थे, गूजर थे, जाट थे, दस्तकार थे, हिन्दू थे, मुसलमान थे। तमाम आपसी भेद-मतभेद के बावजूद वे एकमत थे कि फ़िरंगी को भगाना है। उनके मन में फ़िरंगियों के द्वारा की गई लूट-खसोट, अपमान, धार्मिक हस्तक्षेप का संचित परिताप था। इसी ने उन्हें वह आवेग दिया, जिससे वे विद्रोही सैनिकों के साथ हो लिए।

बिहार में 1857 के विद्रोह के एक संगठक पीर अली से, फाँसी के चंद घंटे पहले, पटना के कमिश्नर विलियम टेलर ने कहा, ''दूसरे नेताओं के नाम बताकर तुम अपनी ज़िन्दगी बचा सकते हो।'' पीर अली ने कहा, ''ज़िन्दगी में कई मौक़े आते हैं, जब जान बचाना अक़्लमंदी का काम होता है; लेकिन ऐसे मौक़े भी आते हैं; जब जान की परवाह किए बग़ैर उसूल के लिए जान क़ुर्बान कर दी जाती है। तुम हमारे जैसे लोगों को फाँसी पर लटका सकते हो, लेकिन हमारे आदर्श को फाँसी नहीं दे सकते।'' (*आवर क्राइसिस,* विलियम टेलर, 1858)।

पीर अली सामंत नहीं थे। किताबों की दुकान चलाते थे। उनके पास कुँवर सिंह की तरह 476 गाँवों की जागीरदारी नहीं थी। जब कोई स्वार्थ नहीं था तो बक़ौल पीर अली वे आदर्श प्रेरित थे। वे आदर्श कौन-से थे? क्या वह आदर्श धर्म था? कुछ विश्लेषक ऐसे मामलों में वहाबी आंदोलन से जोड़कर देखते हैं। क्या ऐसा करना उचित है? ऐसे निष्कर्ष के परीक्षण के लिए पीर अली का मामला सर्वाधिक उपयुक्त है। पीर अली के ज़ब्त पत्रों से स्पष्ट है कि यह ग़ैर-सामंत संगठक लखनऊ के केन्द्रीय संगठक मसीह-उल-जमन से संबंधित था। धर्म भी प्रेरणा हो सकता है। पीर अली इसलाम से प्रेरित रहे हों, लेकिन इसे केवल एक धर्म से मान लेना भी उचित नहीं होगा; क्योंकि तथ्य अलग संकेत करते हैं। पीर अली के समर्थकों में सभी तरह के धर्मावलंबी थे और वे धार्मिक मतभेदों को भुलाने के पक्षधर थे। पीर अली के साथ-साथ 43 लोगों को सज़ा हुई। इनमें कई हिन्दू थे : नंदूलाल, शिवलाल, भंजू, जगधर सिंह, बंधु, मुन्नू बिहारी, नत्थू और छेदी ग्वाला। (संदर्भ : इंडियन हिस्टोरिकल रिकॉर्ड कमीशन, प्रोसीडिंग वॉल्यूम II, पार्ट II, पटना 1956)

इस विद्रोह से संबंधित दस्तावेज़ों में धार्मिक शब्दावली (जैसे : अली, दीन, महावीरी झंडा जैसे शब्द) या कहें नारे ज़रूर मिलते हैं, पर ये धार्मिक नारे अनेक प्रकार के युद्धों में प्रयुक्त होते रहे हैं। इसलिए इनके आधार पर इसे महज़ धर्म से चालित आंदोलन सिद्ध नहीं किया जा सकता। सिर्फ़ कारतूस का मामला होता तो विद्रोह सेना तक सीमित रहता। अंग्रेज़ फिर निर्दोष जनता पर लूट-खसोट, फाँसी,

आगजनी की दमन चक्की क्यों चलाते? अधूरी समझ से अनेक भ्रांतियाँ बनीं। डी.डी. कोशांबी जैसे कुछ इतिहासकार इसी इकहरी समझ के चलते 1857 के संग्राम को सामंती विद्रोह मानते थे। इतना तय है कि 1857 के विद्रोह में कई तबक़े शामिल हुए। ज़ाहिर है, कारण अनेक रहे होंगे। यह एक रैखिक आंदोलन नहीं था, न ही एक क्षेत्र तक सीमित था। निशाने पर थी ईस्ट इंडिया कंपनी और ग़ुलामी। इसके विरुद्ध थी ग़ुलामी से आज़ादी की भावना, बल्कि सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति यही थी। विद्वान भले ही इसको लेकर उलझें, पर जनभावना ऐसे फूटती दीखती है :

गलियन गलियन रैयत रोवें, हाट में बनिया बजाज रे
महल में बैठी बेगम रोवें, डेहरी पर रोवें ख़बास रे
मोती महल की बैठक छूटी, छूटे है मीना बज़ार रे
बाग़ बगिनियाँ की सैरें छूटीं, छूटे है मुलुक हमार रे।

—एक अवधी लोकगीत

जो भारत को महज़ देश समझते हैं, वे उसे राष्ट्र के यथार्थ के रूप में ही देखते हैं। जब हम इस देश की विशालता, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विविधता तथा इसके इतिहास में उपस्थित केन्द्रीय सत्ता (अशोक, चंद्रगुप्त, शेरशाह सूरी, मुग़ल आदि कितने थे, जो पूरे भारत पर शासन कर पाए हों!) तथा भाँति-भाँति के सांस्कृतिक-आर्थिक भूगोल पर ग़ौर करते हैं तो यह 'देश' हमें महादेश नज़र आता है। तकनीकी शब्दावली में इसे उपमहाद्वीप/उपमहादेश कहते ही हैं। ऐसे 'देशवादी' 1857 के संग्राम को राष्ट्रीय आंदोलन मानने में संकोच करते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि पंजाब, राजस्थान या त्रावणकोर में आंदोलन था ही नहीं। फिर कैसे इसे राष्ट्रीय आंदोलन कहें? प्राथमिक स्रोतों पर आधारित अपनी पुस्तक *1857 : बिहार-झारखंड में महायुद्ध* में लेखक द्वय प्रसन्न कुमार चौधरी एवं श्रीकांत ने इस बिन्दु पर लिखा है :

"भारत जैसे विशाल एवं प्राचीन देश में, अनेक विविधताओं और विषमताओं वाले देश में, कोई भी राष्ट्रीय आंदोलन हर समय और हर क्षेत्र में एक ही तीव्रता से न चला है और न ही चल सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में वह अपनी कुछेक क्षेत्रीय विशिष्टताएँ भी अर्जित करता चलता है। अगर किन्हीं क्षेत्रों की ऐसे आंदोलनों में भागीदारी नहीं है अथवा कम है या फिर उसकी तीव्रता कुछेक अन्य क्षेत्रों जितनी नहीं है, तो इसके अपने कुछ कारण होते हैं। इसीलिए देश के एक बड़े भूभाग में चले ऐसे किसी आंदोलन के राष्ट्रीय चरित्र से इनकार करना तो ग़लत है ही, उन क्षेत्रों अथवा समुदायों (जिनकी भागीदारी न हो अथवा कम हो) की आलोचना

करना भी ग़लत है। दरअसल, इस तरह की आलोचना का कोई अंत नहीं है, क्योंकि ऐसे क्षेत्र अथवा समुदाय भी जवाबी प्रश्न कर सकते हैं कि जब हम लड़ रहे थे, तब आप क्यों नहीं हमारे साथ आए? और भारत की परिस्थिति में ऐसे प्रश्न हर क्षेत्र और समुदाय के सामने रखे जा सकते हैं।

''बहरहाल, जब ऐसे किसी आंदोलन के राष्ट्रीय चरित्र पर प्रश्न खड़ा किया जाता है तो उसके जवाब में ज़बरन यह साबित करने की बौद्धिक क़वायद भी निरर्थक है कि इस आंदोलन में हर क्षेत्र की बिलकुल समान भागीदारी रही है अथवा समान तीव्रता रही है। एक राष्ट्रीय महासंग्राम में राष्ट्र के सभी क्षेत्रों, सभी वर्गों और समुदायों के लोग देशभक्ति का गीत गाते, परचम लहराते, सारे भेदभाव भुलाकर समान उत्साह के साथ अपनी आहुति देते हैं—राष्ट्रीय महासंग्राम की यह छवि भले ही आपके कल्पना-लोक में हो, यथार्थ में दुनिया में कहीं भी ऐसे महासंग्राम नहीं हुए। आप चाहें तो पिछले 500 सालों का विश्व इतिहास खंगाल डालें। न अमेरिकी स्वातंत्र्य युद्ध वैसा था न, फ़्रांसीसी राज्यक्रांति, न दक्षिणी अमेरिकी देशों के मुक्ति आंदोलन, न रूसी क्रांति, न चीनी क्रांति, न ही रंगभेद तथा उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ अफ़्रीकी जनता का मुक्ति संग्राम।

''उपर्युक्त बातें सन सत्तावन के ही परिप्रेक्ष्य में नहीं, भारत में बाद में चले सभी राष्ट्रीय आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में भी सच हैं—चाहे वह असहयोग आंदोलन हो, 42 का भारत छोड़ो आंदोलन हो, कम्युनिस्ट अथवा समाजवादी आंदोलन हो, जनजातीय अथवा दलित आंदोलन हो या फिर आपातकालीन विरोधी आंदोलन। इन सारे आंदोलनों में भारत के सभी क्षेत्रों के अपने-अपने गौरव क्षण हैं, भले उनके समय कुछ भिन्न-भिन्न हों।

''सन् सत्तावन के विद्रोह का क्षेत्र तो इतना विशाल और विविध था कि उसके राष्ट्रीय चरित्र पर प्रश्न उठाना बिलकुल बेमानी है। जिन क्षेत्रों की भागीदारी कम थी या न के बराबर थी, उसका एक कारण यह भी था कि उन क्षेत्रों ने निकट अतीत में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ ऐतिहासिक लड़ाइयाँ लड़ी थीं। आज़ादी की इस लड़ाई में विभिन्न वर्गों, जातियों, मज़हबों और समुदायों के लोगों ने जितने बड़े पैमाने पर अपनी आहुति दी, उसकी मिसाल तो विश्व इतिहास में भी कम ही मिलेगी।''

अनेक विद्वान इसे एक विफल विद्रोह की संज्ञा देते हैं। इनमें इतिहासकार और साहित्यिक चिन्तक भी शामिल हैं। परन्तु सैन्य विज्ञान के अध्येता ये बताते हैं कि लड़ाई सिर्फ़ ज़मीन पर ही नहीं, मन के भीतर भी लड़ी जाती है। 1857 के नायकों और नायिकाओं को ज़रूर अंग्रेज़ों ने कुचल दिया, हज़ारों लोगों को पेड़ों की डालों

पर लटकाकर फाँसी दे दी गई, सड़क किनारे लगे खंबों पर उनकी लाशें टाँग दी गईं। हज़ारों गाँव फूँक दिए गए। दमन का इतना बड़ा चक्र स्पार्टकस के नेतृत्व में हुए विद्रोह की याद दिलाता है। भौतिक लड़ाई हम हारे, लेकिन हार ने हमें आत्म-चिन्तन के लिए बाध्य कर दिया। पहली बार इस उपमहाद्वीप के लोगों ने यह सोचा कि देश एक है और ग़ुलामी सामुदायिक ही नहीं, पूरे देश की समस्या है और उसके ख़िलाफ़ लड़ना ज़रूरी है। इस लड़ाई ने सोई हुई आत्माओं को ज़रूर जगा दिया। लेकिन ज़रा हम विचार करें कि क्या भौतिक स्तर पर इसका कोई असर नहीं हुआ ?

1857 के निशाने पर थी ईस्ट इंडिया कंपनी। कंपनी राज का क्या हुआ ? क्या विद्रोह विफल हो गया ? हाँ और ना दोनों। कंपनी जीत गई, ब्रिटेन में लोग ख़ुश भी हुए, पर जो अंग्रेज़ भारत और ईस्ट इंडिया कंपनी में दिलचस्पी नहीं लेते थे, वे भी उस परिघटना से संबंधित, पश्चिम के अख़बारों में छपी ख़बरों के चलते चौकन्ने हो गए। भारत का मामला हाउस ऑफ़ कॉमन्स में उठा। मारे गए अंग्रेज़ों के प्रति सहानुभूति तो केन्द्र में थी ही और कंपनी राज में दोषपूर्ण शासन, धार्मिक उपद्रव, सिपाही विद्रोह जैसे मुद्दे भी उठे। हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स और हाउस ऑफ़ कॉमन्स में सहमति हुई कि मामला महारानी विक्टोरिया पर छोड़ दिया जाए। ब्रिटेन की सरकार ने कंपनी को 30 लाख पाउंड की राशि क्षतिपूर्ति के रूप में दी और 1 नवंबर 1858 को भारत में कंपनी राज का ख़ात्मा हो गया और ब्रिटिश राज की शुरुआत हो गई। इतना ही नहीं, ब्रिटिश राजसत्ता को भारत में सुधारवादी क़दम उठाने पड़े। 1869-72 में जनगणना करवाई गई और समस्या का अंदाज़ा मिला तो सर्वे-सेटलमेंट तथा काश्तकारी अधिनियम बनाए गए। इससे जनता की स्थिति में मामूली ही सही, पर सुधार हुआ। शिक्षा एवं परिवहन के क्षेत्र में विकास शुरू हुआ। जूट, कपड़ा तथा दूसरे उद्योग शुरू किए गए। इतना ही नहीं, नौकरशाही का नियमितीकरण करते हुए भारतीय सिविल सेवा शुरू की गई। गवर्नर जनरल की जगह वाइसराय आ गए और उन्हें अब सेना तथा असैनिक अधिकारियों से बनी इंडिया काउंसिल से सलाह लेनी थी। इतना ही नहीं, महारानी विक्टोरिया द्वारा जारी घोषण-पत्र में स्थानीय राजाओं को अधिकार, सम्मान और प्रतिष्ठा देने, समृद्धि लाने, सामाजिक उन्नति करने, धार्मिक विश्वास एवं पूजा-पाठ में हस्तक्षेप न करने, प्राचीन प्रथाओं, मान्यताओं एवं अधिकारों का पालन करने, ज़मीन के प्रति अनुरक्ति की भावना को सम्मान देने, सबको क़ानूनी संरक्षण देने तथा सैनिक-असैनिक सेवाओं में भर्ती करने का आश्वासन दिया गया था। ये आश्वासन ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक लंपटों की नीतियों से कहीं बेहतर थे।

इस विद्रोह की असफलता का सेहरा कुछ लोग अंग्रेज़ों की 'फूट डालो राज करो' नीति पर डालते हैं। यह भाववादी सोच है। फूट के शिकार हम पहली बार नहीं हुए थे। अंग्रेज़ों के पूर्व भी फूट के शिकार होने की लंबी दास्तान इस देश में रही है। हमें यह सोचना चाहिए कि हम एकजुट और आज़ाद क्यों नहीं रह पाते हैं? क्या इसके लिए हम विविधता पर सारा दोष डाल दें? प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत ने अपनी पुस्तक *1857 : बिहार-झारखंड में महायुद्ध* में लिखा है :

''दुनिया में कोई भी ऐसा समाज, ख़ासकर भारत जैसा विशाल और प्राचीन समाज नहीं जिसमें विविधताएँ एवं विषमताएँ नहीं हैं। इस बिना पर इन समाजों का उपनिवेश बनना क्या नियति है? विविधताओं और विषमताओं के बावजूद हर समाज में सदियों से बने एकता के भी हज़ारों आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सूत्र होते हैं। उपनिवेश बने समाजों के लिए यह सोचना ज़्यादा ज़रूरी है कि एकता के इन सूत्रों को पकड़कर हम अपनी जनता की व्यापकतम एकता विकसित करने का कार्यभार कैसे पूरा करें।

''कहने का तात्पर्य यह है कि विविधताओं की मौजूदगी को ही कुछ लोग उपनिवेश होने का कारण मानने लगते हैं—विविधताएँ रहेंगी तो औपनिवेशिक शक्तियाँ फूट डालेंगी और राज करेंगी। उनके लिए निदान है, कुछ विषमताओं को नहीं, सारी विविधताओं को ख़त्म कर पूरे देश को एक रंग में रंग देना। इस निदान में ही कुछ अंतर्निहित प्रश्न हैं—कौन-सा रंग? और निर्धारण कौन करेगा?

''इस प्रकार, फूट डालो और राज करो की औपनिवेशिक नीति और भारत को एक ही रंग में रँगने की सर्वसत्तावादी नीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भारत का कोई एक रंग नहीं है और सारे संभव रंग उसके रंग हैं। उसकी एकता का सारतत्त्व उसकी रंग-विविधता है।

''बहरहाल, भारतीय समाज में मौजूद विभिन्न आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक विषमताओं के बारे में यही बात नहीं कही जा सकती। ये विषमताएँ हमारे समाज को कमज़ोर करती हैं और उसकी समस्त ऊर्जा और क्षमता को प्रकट होने से वंचित कर देती हैं। यह कमज़ोरी तथा वंचना हमारे उपनिवेश होने का एक कारक बन जाती है। इसीलिए स्वतंत्रता की लड़ाई भारतीय समाज की पुनर्रचना की लड़ाई भी बन जाती है।''

हमारा अतीत जितना पुराना और शानदार रहा हो, भारत में इतिहास-लेखन उतना ही पिछड़ा रहा है। इतिहास के प्रति हमारी उत्सुकता तब बढ़ने लगी, जब ब्रिटिश उपनिवेशकों ने हमारे ही इतिहास का उपयोग हमारे विरुद्ध किया। 1857

हमारे इतिहास के सबसे गौरवशाली अध्यायों में से एक नहीं है, वह हमारा निकट इतिहास भी है। हम इतिहासग्रस्त हैं, इतिहास के खोजी नहीं। कोई कॉलिन लापिये (*फ्रीडम एट मिडनाईट*) आता है और अपने शोध से हमें चमत्कृत कर देता है। दस्तावेज़ पड़े हैं, एकत्र नहीं किए जा सकते। हम उन्हें प्रकाशित, अनूदित नहीं करते। मौखिक प्रमाण बिखरे हैं, एकत्र नहीं करते। ऐसे में साहित्य इतिहास के संचित आवेग का एहसास कराता है। वैसे भी कहते हैं कि इतिहास अपूर्ण होता है, जो है भी उस इतिहास में तथ्यों के अलावा सब 'झूठ' होता है, जबकि साहित्य में तथ्यों के अलावा सब 'सच'।

इतिहास प्रमाण, वह भी अकादमिक मान्यता प्राप्त प्रमाण, पर निर्भर है। लेकिन इतिहास के ऐसे भी अंश होते हैं, जो अकादमिक प्रमाण के दायरे के बाहर होते हैं। प्रमाण-पुष्ट इतिहास छवि निर्मित करता है, छवि-निर्माण लोक-स्मृति और साहित्य में भी होता है; परंतु अपने-आप में कोई छवि पूर्ण नहीं है। अलबत्ता, हम उन्हें मिलाकर देखें तो संपूर्ण छवि जैसी चीज़ बन सकती है। लोक-स्मृति की छवि रूढ़ होती है तो वहाँ साहित्य इस रूढ़ि को तथ्य की आधारभूमि से उड़ान भरने वाली कल्पनाशीलता के बूते इतिहास की संपूर्ण छवि निर्मित करने की कोशिश करता है।

साहित्य अकादेमी ने पिछले वर्ष 1857 के संग्राम के विभिन्न पहलुओं पर एक वृहत संगोष्ठी का आयोजन किया था। 30 व्याख्यान और आलेख-पाठ हुए। उन्हीं में से 14 लेखों का यह चयन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस वर्ष देशभर में इससे संबंधित आयोजनों, पत्रिकाओं के विशेषांकों तथा पुस्तकों के प्रकाशन का ताँता लगा रहा। स्वयं अकादेमी के मंच से प्रस्तुत 16 आलेखों को पुस्तक में शामिल नहीं किया जा रहा है। इसके पीछे अनादर का भाव नहीं है। संकलन करने में विमर्श के मुख्य पहलुओं यथा राजनीतिक, लोक-स्मृति और साहित्य प्रमुख बिन्दु हैं। इसलिए ऐसे आलेख शामिल किए गए, जिन विषयों पर हिन्दी में अन्यत्र सामग्री प्रकाशित नहीं है। इस दृष्टि के बूते हम पुस्तक में कुछ अनूठापन बनाए रखने में कामयाब हुए हैं, ऐसा सुधी पाठकों को अवश्य लगेगा। इसका सारा श्रेय इसके महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित लेखकों को जाता है, जिन्होंने अकादेमी द्वारा आयोजित संगोष्ठी में शामिल होकर सहयोग दिया। हम उनके आभारी हैं।

—अरुण प्रकाश

1857 का विद्रोह : उपनिवेशवाद, साहित्य एवं स्वतंत्रता की ओर कूच*

गोपीचंद नारंग

साहित्य लेखक की अंतरात्मा की आवाज़ है, जो सनातनता/नित्यता में आस्था रखते हुए कालिक एवं स्थानिक से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहा है। परंतु इसी के साथ साहित्य एक सामाजिक कार्य भी है। साहित्य जैसा कि कहा जाता है, लोगों के कल्याण के लिए, लोगों के लिए है। यह विरोधाभासी लग सकता है कि साहित्य का मुख्य लक्ष्य जहाँ एक ओर वैश्वीकरण और कलात्मक संरचना का स्थायित्व है, वहीं यह न केवल निज या मुखर समुदाय के अभावों और दुःख-दर्दों को प्रतिबिम्बित करता है, बल्कि इसकी आकांक्षाओं और सपनों को गुंजाता भी है। यह प्रवृत्ति उस समय और भी उभर आती है, जब किसी समाज में उथल-पुथल हो रही होती है या जब यह किसी विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष के दौर से गुज़र रहा होता है।

अतः साहित्य और इतिहास के बीच एक संबंध बना रहता है, लेकिन साहित्य इतिहास के अधीन नहीं। इतिहास उन शक्तियों के समुच्चय से नियंत्रित होता है, जिनका ऊपरी तौर पर साहित्य से कुछ लेना-देना नहीं होता, लेकिन यदि कुछ समुदाय उत्तर आख्यानों से अथवा स्थानीय कथाओं से प्रेरित होते हैं; और उनकी आकांक्षाओं का निर्माण वार्तालापों या कथोपकथनों से होता है, तब इतिहास और साहित्य का रिश्ता दूर का नहीं रह जाता। ख़ास तौर पर नए इतिहास-शास्त्र के बाद इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि इतिहास संलापों की शक्ति से नियंत्रित नहीं होता, या यों कहा जाए कि इतिहास पाठानुरागी नहीं होता है। दोनों के बीच का द्वंद्वात्मक संबंध लेखकों और इतिहासकारों दोनों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ मैं संक्षेप में उस साहित्यिक दृश्य की चर्चा करना चाहूँगा, जो विद्रोह के समय के आसपास मौजूद था। चूँकि संघर्ष के दो प्रमुख केन्द्रों—दिल्ली और

1. मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर

लखनऊ—की बुनियादी ज़ुबान उर्दू थी, इसलिए उस दौर में आम लोगों के बीच अंग्रेज़ विरोधी, देशभक्तिपूर्ण भावनाओं को उभारने का काम, कदाचित सबसे अधिक उर्दू साहित्यकारों/अदीबों और शायरों ने किया था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद की काली छाया जैसे-जैसे बंगाल से अवध और दिल्ली और भारत के बड़े हिस्सों पर छाती जाती है, वैसे-वैसे कविता में देशभक्ति की भावनाओं का स्थान राष्ट्रवाद की भावनाएँ लेने लगती हैं। इसकी सर्वप्रथम अभिव्यक्तियाँ ग़ज़लों के छुट-फुट अशआर में मिलती हैं, जो तब तक उर्दू की सबसे प्रचलित विधा थी। आमतौर पर ये रोमानी रूपकों के स्थापित प्रयोग के पीछे छुपी हैं, लेकिन ग़ज़लों में प्रयुक्त परंपराओं की व्यवस्था के साथ-साथ कुछ शब्दों के संकेतों और निहितार्थों के कारण, ये अशआर ख़ुद को गहरी राजनीतिक व्याख्या प्रदान करते हैं और उन तमाम अर्थों को संप्रेषित करने का काम करते हैं जो उस दौर के भारतीय लोगों की दुर्दशा और पीड़ा को प्रतिबिम्बित करते हैं।

1757 की प्लासी की लड़ाई भारत के इतिहास में एक मोड़ बिन्दु था। ऐतिहासिक अभिलेखों के अनुसार अंग्रेज़ों के द्वारा बहादुर नवाब सिराजुद्दौला के मारे जाने से व्यथित होकर उनके एक समकालीन शायर राजा रामनारायण मौज़ूँ ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं :

ग़ज़लाँ तुम तो वाक़िफ़ हो कहो मजनून के मरने की,
दीवाना मर गया आख़िर को विराने पे क्या गुज़री
[ओ हिरन, तुम तो गवाह हो मजनून की मौत के पागल (देशभक्त) अब नहीं है, अब सहरा (विदेशी राज से बर्बाद) मुल्क का क्या होगा।]

इस तरह की भावनाओं को अठारहवीं सदी के उर्दू शायरों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, ग़ज़लों के रोमानी बिम्ब विधान में अभिव्यक्त किया था। उस दौर के मीर तक़ी मीर और हातिम सरीखे उस्ताद मुग़ल प्रशासन की सड़न और महान साम्राज्य के त्रासद पतन के साथ-साथ भारत के उजाड़ शहरों के दिल फाड़ देने वाले नज़ारों पर सोग मनाते हैं। मुसहफ़ी और जुरात ने अवध और दिल्ली में अंग्रेज़ों की तेज़ी से बढ़ती हुई आँधी को अपनी आँखों से देखा था :

दिल्ली में आज भीक भी मिलती नहीं उन्हें,···
था कल तलक दिमाग़ जिन्हें तख़्तो-ताज मीर का।
कौड़ी-कौड़ी बिकते हैं गुल किश्वार-ए-दिल्ली के बीच,
हुस्न के मालिक जो थे वो ऐसे अरज़न हो गए।

(आज दिल्ली में गुलाब यानी शहज़ादियाँ कुछ पैसों में बिकती हैं,
हाय जो मुजस्सम तस्वीर थीं हुस्न की वे इतनी सस्ती हो गई हैं।)

—मुसहफ़ी

हिन्दुस्तान की दौलत-ओ-हश्मत जो कुछ के थी
काफ़िर फ़िरंगियों ने बा-तदबीर खेंच ली
(हिन्दुस्तान के पास जो भी धन-संपदा थी,
उसे काफ़िर फ़िरंगियों ने अपनी चालबाज़ियों से हड़प लिया।)

—मुसहफ़ी

कहिए न इन्हें अमीर अब और न वज़ीर,
अंग्रेज़ों के हाथ क़फ़स में हैं असीर,
जो कुछ वो परहाएँ सो ये मुँह से बोलें,
बंगाले की मैना हैं ये पूरब के अमीर।
(अब ये अमीर या नवाब कहलाने के क़ाबिल नहीं हैं,
वे अंग्रेज़ों के हाथों में बंगाल की कठपुतलियाँ हैं ये।)

—ज़ुरात

उन्नीसवीं सदी के मध्य में अंग्रेज़ों द्वारा अवध की रियासत पर क़ब्ज़ा किया जाना उर्दू के अनेक शायरों के लिए निजी त्रासदी थी। इस पर टिप्पणी करते हुए लखनऊ के मशहूर सांस्कृतिक इतिहासकार अब्दुल हलीम शरर ने लिखा है कि नवाब वाज़िद अली शाह को गद्दी से हटाए जाने की ख़बर इतनी सदमा देने वाली थी कि बहुत-से तो पागल ही हो गए, बहुतों से उनका सरपरस्त छिन गया और वे कहीं के न रह गए थे। नवाब के लड़कपन के एक दोस्त फ़त-हुद-दौला बर्क़ देश-निकाला में उनके साथ गए, और कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम के मटिया बुर्ज में आख़िरी दिन तक नवाब के साथ रहे थे। उर्दू मर्सियाओं के मुमताज ने अपने सोग का इज़हार इन चार पंक्तियों में किया था :

क्यों-कर न दिले ग़म ज़ादाह फ़रियाद करे,
जब मुल्क को यों घानिम बरबाद करे,
माँगो ये दुआ के फिर खुदाबंद-ए-करीम,
उजड़ी हुई सल्तनत को आबाद करे।

(मेरा दिल दुखी क्यों न हो,
जब मेरे मुल्क को दुश्मनों द्वारा इस बुरी तरह से लूटा जा रहा है?

अल्लाह से दया की दुआ करो
कि सल्तनत फिर क़ायम हो जाए।)

इन घटनाओं के पीछे-पीछे हुआ 1857 का महाविद्रोह, जिसे अनेक लोगों ने भारतीय स्वाधीनता के प्रथम संग्राम की संज्ञा दी। उर्दू शायरों ने विद्रोह की आग को भड़काया और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ते हुए बहुतेरों ने अपनी जान दे दी। ग़ालिब के क़रीबी दोस्त और विख्यात विद्वान एवं शायर इमाम बख़्श सहबाही को उनके पूरे ख़ानदान के साथ बेरहमी से क़त्ल कर दिया गया था; ग़ालिब के एक अन्य समकालीन, मुफ़्ती सदरुद्दीन अज़राहा पर, जो उन दिनों दिल्ली के मुफ़्ती थे, बग़ावती फ़ौजों का साथ देने और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ फ़तवा-ए-जिहादियत पर दस्तख़त करने का आरोप लगाया गया था। उनको नौकरी से निकाल दिया गया और उनकी जायदाद ज़ब्त कर ली गई।

विद्रोह के दिनों में उर्दू के सबसे अज़ीम शायर, ग़ालिब अपने घर पर परिवार के साथ थे। अब्दुल ग़फ़ूर सरूर के नाम अपने एक ख़त में वह लिखते हैं, ''यहाँ इस शहर में अपनी बीवी और बेटों के साथ मैं ख़ून के दरिया में तैर रहा हूँ। मैंने अपनी देहरी पर क़दम नहीं रखा है। मैं पकड़ा या निकाला अथवा गिरफ़्तार या मारा भी नहीं गया हूँ।'' दिल्ली पर अंग्रेज़ों का दोबारा क़ब्ज़ा हो जाने के बाद, वहाँ कई दिनों तक न तो खाना मुहैया था, न ही पानी। लोगों को अंधाधुंध मारा गया, मकानों को लूटा गया और हर ओर ज़ुल्म को खुला छोड़ दिया गया था। ग़ालिब के बहुत से दोस्त, रिश्तेदार और शागिर्द या तो क़त्ल कर दिए गए थे, या डरा-धमका दिया गया था अथवा अपने परिवारों की तबाही के बाद वे शहर छोड़कर भाग गए थे। युसुफ़ मिर्ज़ा के नाम अपने पत्र में ग़ालिब ने इन त्रासदियों का बयान इन अल्फाज़ में किया है :

''...बस मेरा परवरदिगार और मालिक ही जानता है कि मुझ पर असल में क्या गुज़र रही है...क्या कोई ताज्जुब होगा कि दुखों के इस हमले से मैं अपना दिमाग़ खो बैठूँ?...मैंने कौन-सा दुःख नहीं झेला है: मौत का दुख, अलगाव का दुख, आमदनी और इज़्ज़त जाने का दुख। लाल क़िले के त्रासद हादसों के बाद, मैं जानता हूँ दिल्ली के मेरे कितने ही दोस्त मार डाले गए हैं। अल्लाह, अल्लाह! मैं उन्हें कभी भी कैसे वापस ला पाऊँगा!'' दिल्ली के पतन के बाद एक अंग्रेज़ सिपाही द्वारा ग़ालिब को उनके घर से गिरफ्तार कर लिया गया और कर्नल बर्न के सामने पेश किया गया। ग़ालिब के असामान्य लिबास को देखकर अंग्रेज़ ने पूछा, ''क्या तुम मुसलमान हो?'' ग़ालिब ने जवाब दिया, ''आधा।'' कर्नल ने पूछा, ''आधा से तुम्हारा क्या मतलब है?'' ग़ालिब ने जवाब दिया, ''मैं पीता हूँ, लेकिन सुअर का

गोश्त नहीं खाता।'' सुनकर कर्नल मुस्कराया और ग़ालिब को छोड़ दिया।

मुमकिन है कि ग़दर के ज़माने की घटनाओं को लेकर ग़ालिब की डायरी दस्तंबू को बाद में ख़र्चे की नज़र से बदल दिया गया हो। अंग्रेज़ों की तारीफ़ करते हुए ग़ालिब ने 'खरे नियम', 'रहनुमाई के आसमाँ में चमकता सितारा', 'ज्ञान और बुद्धिमत्ता की प्रतिमा', और 'अपने गुणों तथा अच्छे चरित्र के लिए प्रसिद्ध शासक' जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया था। दोबारा क़ब्ज़ा होने के बाद ग़ालिब से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह बग़ावत का समर्थन और अंग्रेज़ों का विरोध करेंगे, लेकिन जिस तरह से उन्होंने उनकी तारीफ़ की थी, उस पर अचरज होता है। परंतु इसकी एक पृष्ठभूमि भी है। विद्रोह से कुछ साल पहले लॉर्ड केनिंग के जरिए उन्होंने इंग्लैण्ड की महारानी को एक फ़ारसी क़सीदा भेजा था और इंग्लैण्ड की महारानी से उनको ख़िताब और अँगरखे से उसी तरह से सम्मानित करने और पेन्शन बाँधने की दरख़ास्त की थी जैसा कि तुर्की और ईरान के दरबारों में किया जाता रहा था। लंदन से जवाब आया था कि उनकी अर्ज़ी पर विचार किया जा रहा है। इसके चलते ग़ालिब राजकवि होने के सपने देखने लगे थे, लेकिन बदनसीबी से ग़दर शुरू हो गया।

दस्तंबू को एक ख़ास मक़सद से प्रकाशित कराया गया था। ग़ालिब अपने दावे को फिर से ज़िन्दा करना चाहते थे। इसके बावजूद ग़दर के दौरान ग़ालिब न केवल बहादुरशाह ज़फ़र के दरबार में हाज़िर होते रहे थे, बल्कि बहादुरशाह के राज का गुणगान और युद्ध की घोषणा का कीर्तिगान करते हुए उन्होंने एक सिक्का (तिथिबंध कविता) भी लिखा था, और यह सिक्का ख़ुद शहंशाह को पेश किया गया था।

अमन क़ायम होने के बाद जब ग़ालिब ने अपनी पेन्शन और दरबार में अपनी जगह बहाल कराने के लिए चक्कर लगाने शुरू किए, तो अंग्रेज़ों ने उनसे कहा कि ग़दर के दौरान उन्होंने विद्रोहियों के साथ संबंध बनाए रखे थे, और कि अब उनकी पेन्शन और दरबार बंद कर दिए गए हैं। बेचारे शायर ने आरोपों से तरह-तरह के शायराना ढंग से इंकार करने की कोशिशें कीं, पर कोई नतीजा न निकला।

ग़ालिब पर काम कर रहे विद्वानों ने हाल ही में जीवनलाल की ख़ुफ़िया रिपोर्टों के मामले में सिक्का पंक्तियों को ढूँढ़ निकाला है जो ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखी थीं। ये पंक्तियाँ हैं :

बर-ज़रे-अफ़ताब-ओ-नुगराह-ए-माह
सिक्का ज़द दार जहाँ बहादुरशाह

(सूरज के सोने पर, और चाँद की चाँदी पर
शहंशाह बहादुर ने अपना सिक्का छाप दिया, और दुनिया में चला दिया।)

इसलिए ग़ालिब को दुःख उठाने पड़े। उनको लाल क़िले से मिलने वाली तनख़्वाह से ही नहीं, बल्कि पैतृक पेन्शन और दरबार में अपने सम्मानित स्थान से भी हाथ धोना पड़ा, और इन सबके ऊपर राजकवि नामज़द होने की उनकी उम्मीद हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म हो गई। इसका बयान करते हुए वह लिखते हैं :

''अब मुझे उस पेन्शन को दोबारा पाने का कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता जो कभी अंग्रेज़ों से मिलती थी। मैं अपने बिस्तर और कपड़े बेच-बेचकर गुज़र कर रहा हूँ; दूसरे लोग रोटी खाते हैं, मैं कपड़े खाता हूँ।''

लेकिन विद्रोह और अंग्रेज़ों के बारे में उनके असली जज़्बात के लिए ग़ालिब के उन जाती ख़तों को देखना चाहिए जो उन्होंने अपने दोस्तों को लिखे थे : उनकी अपनी वक़्ती चिन्ताओं से आज़ाद ये ख़तूत उनके असली जज़्बे को अधिक ज़ोरदार ढंग से सामने लाते हैं। ग़ालिब ने उन भयानक अत्याचारों को बड़ी शिद्दत से महसूस किया था जो अंग्रेज़ों ने भारतीयों पर ढाए थे, और बर्बादी—उनके वर्ग और शहर—के उनके वर्णन बहुत दर्दनाक हैं। दिल्ली पर दोबारा क़ब्ज़े के बाद, ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ कोई नहीं बोल सकता था, फिर भी अपने ख़तों में ग़ालिब ज़ुल्म-ज़्यादतियों के बारे में बड़े प्रभावशाली ढंग से लिखते हैं। और दिल्ली के उस दौर के बारे में हालाँकि वह बड़े एहतियात के साथ लिखते हैं, फिर भी हालात वैसे ही रहे होंगे। शहाबुद्दीन के नाम अपने पत्र में वे लिखते हैं:

''ज़रा मेरे हाल पर सोचिए : मैं लिख तो रहा हूँ, पर मैं क्या लिख सकता हूँ? क्या मैं सचमुच कुछ लिख सकता हूँ, और क्या लिखना सही है? बस इतना कुछ सच है कि मैं और आप अभी ज़िन्दा हैं। इससे ज़्यादा हममें से कोई और कुछ नहीं कह सकता है।''

एक दूसरे ख़त में वह उन परेशानियों का साफ़ बयान करते हैं जो दिल्ली के लोगों को उठानी पड़ रही थीं और जिस एक हिस्से में वह अंग्रेज़ों के ज़ुल्मों की बात करते हैं, उसमें हम एक शिद्दत और निडरता को साफ़ तौर पर देख सकते हैं जिससे वह हालात की सच्चाई का बयान करते हैं :

''शहर ने बहुत से हमले झेले हैं। पहला था देशी सिपाहियों की फ़ौज का···दूसरा था अंग्रेज़ों की फ़ौज का, जिसने ज़िन्दगी, दौलत, इज़्ज़त, जायदाद, सच में हमारी ज़िन्दगी के सारे इशार तबाह कर दिए···''

मीर मेहदी मजरूह को उन्होंने दोबारा लिखा :

"बिरादर, आप क्या पूछ रहे हैं? मैं क्या लिख सकता हूँ? दिल्ली में ज़िन्दगी पाँच चीज़ों के सहारे है : लाल क़िला, चाँदनी चौक, जामा मस्जिद पर रोज़ाना मजलिस, जमुना पुल पर हर हफ़्ते की सैर और फूल वालों का सालाना जमावड़ा।" अब ये चीज़ें दिल्ली में दिखाई नहीं पड़तीं...आप ही बताइए कि इनके बग़ैर दिल्ली, दिल्ली कैसे हो सकती है...हाँ, हिन्दुस्तान में कभी होता था दिल्ली नाम का एक शहर!

और अलाउद्दीन अहमद ख़ान को उन्होंने लिखा था :

"या अल्लाह यह वो दिल्ली नहीं जहाँ आप पैदा हुए थे...यह छावनी है...शाही ख़ानदान के जिस मर्द मिम्बरान को तलवार ने बख़्श दिया था वे अब पाँच रुपया महीने की पेन्शन पा रहे हैं। जहाँ तक औरतों की बात है, उम्रदराज़ मैडमें और नौजवान, तवायफ़ें बन गई हैं।"

दिल्ली की तबाही, और ख़ासतौर पर इसके बाशिन्दों के दुःख-दर्दों का एक बार फिर बयान करते हुए ग़ालिब ने अलाउद्दीन अलाई को लिखा था :

बसके फ़ा'अल-ए मेयूरिद हाय आज,
हर सिल्ल-शूर इंगलिसतान का
घर से बाज़ार में निकलते हुए,
ज़ाहरा होता है अब इंसान का।
चौक जिसको कहें वो मक़तूल है,
घर बना है नमूना ज़िन्दान का।
शहरे-दिल्ली का ज़र्रा-ज़र्रा-ए-ख़ाक
तश्नाए-ख़ून है हर मुसलमान का।

[पक्के तौर पर हर अंग्रेज़ सिपाही अपने-आपको ख़ुदा मानता है।
अपने घर से बाज़ार जानेवाला हर कोई घबराया हुआ है।
बाज़ार (चाँदनी चौक) क़साईख़ाने-सा लगता है,
और घर जेल से लगते हैं।
दिल्ली की धूल का हर क़तरा
मुसलमानों के ख़ून का प्यासा है आज।]

1857 की त्रासदी दिल्ली शहर के शायरों की रगों में इतनी गहराई से बसी थी कि शहर की बर्बादी और बहादुरशाह ज़फ़र को रंगून देश-निकाले पर उनमें से बहुतों ने मर्सिये और *शहर आशोब* की रचना की थी। ग़ालिब के एक शागिर्द, तफ़ज़्ज़ुल हुसेन ख़ाँ कौकब द्वारा संकलित *फ़ुगान-ए-दिल्ली* नाम की किताब में

ऐसी 27 नज़्में शामिल हैं। इस काल की महत्त्वपूर्ण नज़्मों में, विद्रोह का अभिनंदन करती, एक काल लेखी नज़्म की रचना महमूद हुसैन आज़ाद ने की थी, और यह *दिल्ली उर्दू अख़बार* में प्रकाशित हुई थी। इस अख़बार के मालिक आज़ाद के पिता मौलवी मुहम्मद बक़र थे, जिनको अंग्रेज़ों ने मार दिया और प्रेस को ज़ब्त कर लिया था। नौजवान आज़ाद को अपनी जान बचाकर भागना पड़ा था। यह नज़्म *दिल्ली उर्दू अख़बार* के 24 मई 1857 के अंक में शाया हुई थी, जिसकी प्रतिलिपि भारत के अभिलेखागार में रखी है। बहादुरशाह ज़फ़र बहुत अच्छे शायर थे, और निर्वासन के आख़िरी सालों में लिखी उनकी रचनाएँ उनकी दुर्दशा और तंगहाली के सबूत हैं :

ना किसी की आँख का नूर हूँ, ना किसी के दिल का क़रार हूँ,
जो किसी के काम ना आ सका, मैं वो एक मुश्त-ए-ग़ुबार हूँ।
मेरा रंग-रूप बिगड़ गया, मेरा यार मुझसे बिछड़ गया,
जो चमन ख़िज़ाँ से उजड़ गया, मैं उसी की फ़स्ले-बहार हूँ।
न तो मैं किसी का हबीब हूँ, ना तो मैं किसी का रक़ीब हूँ,
जो बिगड़ गया वो नसीब हूँ, जो उजड़ गया वो दयार हूँ।
पए .फ़ातिहा कोई आए क्यूँ, कोई चार फूल चढ़ाए क्यूँ,
कोई आके शमाँ जलाए क्यूँ,मैं वो बेकसी का मज़ार हूँ।

देशभक्ति और इस मायने में हर ओर पसरी तबाही के अहसास की यह थाती थी, जो कुछ दशकों की चुप्पी के बाद इक़बाल, चकबस्त, दुर्गासहाय सरूर, हसरत मोहानी, जोश मलीहाबादी और दर्जनों दूसरे शायरों की आवाज़ में गूँजी थी। इक़बाल की मशहूर नज़्म 'तराना-ए-हिन्द' (1905) आज भी करोड़ों के दिलों में जोश पैदा कर देती है :

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा
हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा ...

यही वो विरासत थी, जिसने अनेक स्वतंत्रता सेनानियों को इस तरह के शेर गाते हुए फाँसी के तख़्ते पर चढ़ने को प्रेरित किया था :

सर.फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है ज़ोर कितना बाज़ु-ए-क़ातिल में है।

और शायद देशक्ति की यही वो युग चेतना थी, जिसने हमें आज़ादी की सुबह की ओर कूच करने के दौरान करोड़ों भारतीयों को प्रेरित करने वाले 'इंक़िलाब ज़िन्दाबाद' जैसे नारे दिए थे।

विद्रोह के पीछे*

इरफ़ान हबीब

चूँकि मैं विद्रोह शब्द का इस्तेमाल करता हूँ, इसलिए मैं कहूँगा कि मैं जिस परंपरा से आया हूँ, उसमें विद्रोह या बग़ावत जैसे शब्द पूर्वाग्रह पैदा नहीं करते; बल्कि इन शब्दों के पीछे सहानुभूति छिपी है। इसलिए मुझे विद्रोह शब्द इस्तेमाल करने से बचने का कोई विशेष कारण नहीं दिखता। ऐतिहासिक रूप से यह कहना सही होगा कि यह एक शासन के विरुद्ध विद्रोह था। इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु को चिह्नित किया जाना चाहिए, और मेरे ख़याल से आमतौर पर यह अच्छी नीति होती है कि किसी निरपेक्ष शब्द से शुरुआत की जाए और तब उसे समझा जाए कि उसका विशेष अर्थ क्या है। जब हम विशेष अर्थ और उसके महत्त्व को समझ लेंगे तब ज़रूर हम उस परिघटना को भिन्न रूप से श्रेणीबद्ध कर सकेंगे।

इस व्याख्यान को मैं 1857 के विद्रोह के एक विशेष पहलू पर ही केन्द्रित रखूँगा और वह यह होगा कि विद्रोह के बौद्धिक और वैचारिक कारक कौन-कौन-से थे। यह प्रश्न बहुधा पूछा जाता है कि अपनी अंतर्वस्तु में विद्रोह धार्मिक था अथवा उपनिवेश-विरोधी या सकारात्मक रूप से राष्ट्रवादी था, आदि-आदि। हाँ, यह ज़रूर है कि यह प्रश्न दूसरे प्रश्न भी उठता है। जब हम राष्ट्र शब्द का इस्तेमाल करते हैं, तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है? इसीलिए मैं इस बात की जटिलता को चिह्नित करते हुए अपनी बात शुरू करता हूँ। मैं प्राथमिक प्रमाण पर ग़ौर करने से शुरू करूँगा और यह जानने की चेष्टा करूँगा कि विद्रोह का नेतृत्व करनेवाले लोगों के बुनियादी ख़यालात क्या थे। जहाँ तक हथियारबंद संघर्ष का प्रश्न है बंगाली या सिपाही प्रमुख थे या वे प्रवक्ता प्रमुख थे, जिनके लेखन हमें उपलब्ध हैं। मैं आगे बात करूँ इसके पहले यह कहना चाहूँगा कि जब 1857 की पहली शताब्दी

* इस व्याख्यान की रिकार्डिंग में कुछ समस्याएँ आ गई थीं, इसलिए इसे किंचित् संक्षिप्त करना पड़ा। फिर भी प्रो. हबीब के मूल मंतव्य को यथावत रखा गया है। मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं *अरुण प्रकाश*।

मनाई गई, तब उत्तर प्रदेश सरकार ने इससे संबंधित दस्तावेज़ों के संग्रह का काम करवाया था। लेकिन दुर्भाग्य से इसके लिए उसे उचित श्रेय नहीं दिया गया। इनमें दोनों तरफ़ के दस्तावेज़ थे—अंग्रेज़ों के पक्ष और विद्रोहियों के पक्ष वाले। यह संकलन अब्बास रिज़वी द्वारा तैयार किया गया था और पाँच खंडों में प्रकाशित हुआ था और आज तक इससे संबंधित प्रकाशित सामग्रियों में उन्हें ही बुनियादी दस्तावेज़ माना जाता रहा है। लेकिन दूसरे दस्तावेज़ भी हैं, जिन पर मैं आगे चर्चा करूँगा।

शुरुआत मैं बंगाल आर्मी से करता हूँ। एशिया की सबसे आधुनिक सेना माने जानेवाली बंगाल आर्मी के ख़यालात, विश्वास और पूर्वाग्रह क्या-क्या थे? इसमें कोई 1 लाख 35 हज़ार सिपाही थे। 15-20 हज़ार यूरोपियन अधिकारी थे। 1858 में ब्रिटिश संसद में दिए गए बयान के मुताबिक़ 8500 सिपाहियों को छोड़कर सभी ने बग़ावत की थी। इसका अर्थ यह हुआ कि 126500 सिपाहियों ने विद्रोह किया। संभवत: 19वीं सदी में औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ विद्रोह करनेवाला यह सबसे बड़ा सैन्य बल था। विद्रोह के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यही है। बंगाल आर्मी के सिपाही सबसे कटिबद्ध सैनिक माने जाते थे। मैं यहाँ कुँवर सिंह, अमर सिंह, आदि के बारे में—जिन्हें महाकाव्यों में अनुकरणीय उदाहरण के रूप में वर्णित किया गया है—चर्चा नहीं कर रहा। मैं सिर्फ़ विद्रोह के महत्त्वपूर्ण कारक बंगाल आर्मी के बारे में चर्चा कर रहा हूँ।

अब पहला सवाल यह है कि बंगाल आर्मी के सिपाही विद्रोह कर बैठे, इसके पीछे प्रेरणादायी कौन-सा विचार था? ऊपरी तौर पर देखें तो वहाँ सैनिकों की अच्छी देखभाल होती थी, उन्हें भारतीय मानकों के अनुसार बहुत अच्छा वेतन दिया जाता था, उन्हें वेतन नियमित रूप से दिया जाता था और वे देसी रजवाड़ों की सेनाओं के सिपाहियों के मुक़ाबले बेहतर दीखते थे। वे विद्रोह पर उतारू हो गए, इसको समझने के लिए हमें कई परिस्थितियों पर ग़ौर करना पड़ेगा। एक बहुत बड़ा दबाव उन पर साम्राज्यवाद का था। इसके बारे में मैं अधिक नहीं कहूँगा, क्योंकि उस पर मैं अलग से लिख चुका हूँ। अंग्रेज़ों पर उपनिवेश का विस्तार करने का दबाव लगातार चला आ रहा था। बंगाल आर्मी को विभिन्न तरह की लड़ाइयों में शिरकत करनी पड़ रही थी। पहले अफ़ग़ान युद्ध के बाद से ही बंगाल आर्मी के सिपाहियों को 19 वर्षों से लाम पर विदेश भेजा जा रहा था। उन्हें धमकी दी गई थी कि उन्हें लाम पर चीन भी भेजा जा सकता है। दूसरी तरफ़ उन्हें हिन्दुस्तान भर में सिक्किम जैसी राजशाही से लड़ना पड़ रहा था। क्रीमियाई युद्ध, अफ़ीम युद्ध, वग़ैरह में भारी संख्या में सिपाही मारे गए थे। इसलिए सेना पर मनोवैज्ञानिक दबाव

था। नैपोलियन युद्ध के बाद किसी भी दूसरी सेना पर इतने लंबे अर्से तक लगातार बिना थके लड़ने का रिकॉर्ड नहीं रहा। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे अक्सर अनदेखा किया गया है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बिन्दु है; और यह बंगाल आर्मी पर एक विशेष प्रकार के दबाव से संबंधित है।

बंगाल आर्मी के मामले में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—विचित्र क्षेत्रवादी संरचना। हालाँकि इसे बंगाल आर्मी कहा जाता था, लेकिन अंग्रेज़ चाहते थे कि बंगाल आर्मी के सैनिक एक ही भाषा के बोलने वाले हों, इसलिए उन्होंने इसे हिन्दुस्तानी आर्मी यानी हिंदुस्तानी बोलने वाली सेना बना दिया था। सैनिक उन्हीं इलाक़ों से भर्ती किए जाते थे जहाँ हिन्दुस्तानी बोली जाती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बड़ी संख्या में सिपाही उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार, हरियाणा तथा मध्य भारत के सटे हुए क्षेत्रों से आते थे। यहाँ नोट करने वाली बात यह है कि सिपाही उन्हीं क्षेत्रों से आते थे. जहाँ महालवाड़ी प्रथा के अंतर्गत भूमि राजस्व वसूली को लेकर लोगों को बहुत शिकायतें थीं। ज़मीन की ज़ब्ती ने बंगाल आर्मी में भर्ती ब्राह्मण और शेख़ सैनिकों के परिवारों को बहुत प्रभावित कर रखा था। ये सिपाही ऐसे घरेलू दबावों से परेशान थे। सन् 1856 में इस सेना में क़रीब 40 हज़ार सिपाही तो अवध के थे। अंग्रेज़ों ने वहाँ कराधान बढ़ा दिया था और लोगों के मौजूदा संपत्ति अधिकार में छेड़छाड़ भी शुरू कर दी थी।

अंग्रेज़ दूसरों के मुक़ाबले ब्राह्मण सैनिकों को तरजीह देते थे। वास्तव में यह प्रथा अरसे से चली आ रही थी। लेकिन 1850 के निर्णय के बाद इस प्रथा को और मज़बूती प्रदान कर दी गई। बंगाल आर्मी की पैदल सेना में ब्राह्मणों की तादाद बहुमत में थी। ब्राह्मण सैनिकों के बारे में माना जाता था कि वे ज़्यादा अनुशासित और पढ़े-लिखे होते हैं। अंग्रेज़ ख़ुद बंगाल सेना के भीतर जाति प्रथा को बहुत बढ़ावा दिया करते थे। बंगाल आर्मी में सांप्रदायिक मिश्रण का बड़ा नमूना था। कहने का अर्थ यह है कि अंग्रेज़ों ने धर्म के आधार पर सेना की कंपनियों और बटालियनों का गठन नहीं किया था। सारे धर्मों के सैनिक इकट्ठा रखे जाते थे। लड़ाई के मैदान में हिन्दू और मुसलमान दोनों सैनिक साथ-साथ मार्च करते थे।

अंग्रेज़ों के एक हमदर्द लेखक सैयद अहमद ख़ाँ के मुताबिक़ अंग्रेज़ों ने यहीं एक ग़लती कर दी। वे कहते हैं कि अंग्रेज़ों को चाहिए था कि हिन्दू और मुसलमानों को सेना में अलग-अलग रखते। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हिन्दू विद्रोह पर उतारू होते तो मुसलमानों ने अंग्रेज़ों का साथ दिया होता और अगर मुसलमानों ने विद्रोह किया होता तो हिन्दू अंग्रेज़ों का साथ देते। लेकिन अंग्रेज़ों ने मिली-जुली सेना रखना पसंद किया। उन्होंने इस सेना को विदेश में भी इस्तेमाल करने की

कोशिश की। उन्होंने इस सेना का प्रभावी इस्तेमाल विभिन्न क्षेत्रों में करने की कोशिश की थी। इसीलिए वे चाहते थे कि सेना वैमनस्य वाले विभिन्न समूहों में न बँटे, बल्कि वह एकजुट होकर उनके लिए लड़े। बंगाल आर्मी की मनोदशा को समझने के लिए यह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। सेना सांप्रदायिक रूप से एकजुट थी। हालाँकि उसमें जातिगत चेतना बहुत थी। बंगाल आर्मी भारत में किसी भी दूसरी भारतीय सेना के मुक़ाबले ज़्यादा पढ़ी-लिखी थी और उस पर आधुनिक विचारों, विशेषकर आधुनिक संगठनों, का असर भी था। उस पर उस ज़माने के विवादों, विशेषकर धार्मिक विवादों, का भी प्रभाव पड़ा करता था। बरहामपुर या बैरकपुर में बग़ावत की प्रारंभिक कोशिशों को इन विवादों की रोशनी में समझा जा सकता है। बंगाल में उन दिनों ऐसे ईसाई मिशनरी सक्रिय थे, जो हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों पर लगातार हमले कर रहे थे। दूसरी तरफ़ राममोहन राय और उनका सुधारवादी आंदोलन था, एक बंगाल ग्रुप भी हुआ करता था, जो अंग्रेज़ों का आलोचक था। साथ ही वह समाज के दकियानूस समूहों का भी आलोचक था। वे घर में मांस खाते थे और पड़ोसियों के घर पर मांस के टुकड़े गो-मांस, गो-मांस कहकर फेंक देते थे। शायद वे गो-मांस खाते भी नहीं थे। वास्तव में वे धार्मिक श्रद्धालुओं को भड़काना चाहते थे। एक धर्म सभा हुआ करती थी, जो हिन्दू धर्म की रक्षा की कोशिश में लगी रहती थी। चर्बी लगे कारतूस के मामले में धर्म सभा भी असमंजस में थी। उसे लगा कि हिन्दू धर्म की रक्षा का यही एक अवसर है। मैंने ब्रिटिश रिपोर्ट्स के अलावा इस संबंध में और कोई प्रमाण नहीं देखा है। बहुत सारे सिपाही धर्म सभा के संपर्क में थे। चर्बी लगे कारतूस का मुद्दा बंगाल में चल रहे एक विशेष प्रकार का विवाद था, जिसमें ईसाई मिशनरियों के प्रचार तथा धर्म के पुरातनपंथी तरीक़े से बचाव भी जुड़े थे। यह बंगाल ही था, जहाँ चर्बी लगे कारतूस के ख़िलाफ़ क्रांति एक छावनी से दूसरी छावनी तक फैलती गई। इसका प्रारंभिक असर न दिल्ली में हुआ, न मेरठ में, न पेशावर में हुआ। इसका असर बंगाल के ही बरहामपुर और बैरकपुर छावनी में ज़रूर हुआ और ऐसा वहीं इसलिए हुआ कि बंगाल में उस वक़्त यह विशेष प्रकार का विवाद चल रहा था। बंगाल में चल रहा यह प्रचार कि धर्म ख़तरे में है—के प्रचारक बंगाल आर्मी के सिपाही भी बने। इस संबंध में कई दिलचस्प बातें भी हुईं। उदाहरण के लिए, मुसलमान सिपाहियों को जानवरों की चर्बी के इस्तेमाल से कोई ऐतराज़ नहीं था। अलबत्ता सूअर की चर्बी पर ज़रूर उन्हें आपत्ति थी। उन्हें यह बता दिया गया था कि इसमें सूअर की चर्बी का इस्तेमाल नहीं किया गया है। इसमें सिर्फ़ पशुओं की चर्बी का इस्तेमाल हुआ है। लेकिन छावनी-दर-छावनी के मुस्लिम

सिपाहियों ने कहा कि चूँकि हमारे हिन्दू भाइयों को गाय की चर्बी पर आपत्ति है, इसीलिए हम लोग भी चर्बी लगे कारतूस का इस्तेमाल नहीं करेंगे। इसलिए चर्बी लगे कारतूस का मुद्दा इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं रहा कि सिपाहियों ने उसका इस्तेमाल नहीं किया, जबकि उसके इस्तेमाल नहीं करने से उनकी जान ख़तरे में पड़ सकती है। कारण यह था कि कारतूस काटने के लिए दाँत के अलावा किसी और चीज़ का इस्तेमाल सैनिक करते तो उसमें समय अधिक लगता और इस दरम्यान वे दुश्मन की गोली से मारे जा सकते थे। इसीलिए सेना मुख्यालय इस पर ज़ोर दे रहा था कि हमारे सैनिक चर्बी लगे कारतूस को दाँत से तोड़ें। बहरहाल मैं चर्बी लगे कारतूस पर ही केवल ज़ोर देना नहीं चाहता, बल्कि यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि यह मामला विशेष इसलिए बना, क्योंकि उस वक़्त के बंगाल में मिशनरियों, आधुनिकों और पुरातनपंथियों में विवाद चल रहा था।

बंगाल आर्मी के सैनिकों ने चर्बी लगे कारतूस के मामलों के साथ अपनी दूसरी शिकायतों को भी नत्थी कर दिया। उन पर यह लगातार दबाव रहता था कि वे एक क्षण के नोटिस पर युद्ध पर जाने के लिए तैयार रहें। वे ईरान, बर्मा एवं चीन भेजे जाने को लेकर विशेष रूप से परेशान थे। यह परेशानी सिर्फ़ धार्मिक कारणों से नहीं थी। मुसलमानों के लिए समुद्र पार जाने में कोई धार्मिक पाबंदी नहीं थी और वास्तविकता है कि हिन्दू सिपाही क्रीमिया भी भेजे जा चुके थे और तब 1854 में कोई विद्रोह नहीं हुआ था। देश से बाहर भेजे गए सैनिक युद्ध के बजाय बीमारी से ज़्यादा मरे। और इसीलिए यह एक वाजिब शिकायत थी। इसके अलावा भी उनकी माँगें थीं कि तरक़्क़ी के अवसर नहीं थे। अफ़सर उनसे गाली-गलौच की भाषा में बात किया करते थे और गोरी चमड़ी वाले अंग्रेज़ उनसे नस्लीय भेदभाव किया करते थे। उस ज़माने की दूसरी भारतीय सेनाओं में बंगाल आर्मी जैसी एकजुटता की कोई अवधारणा नहीं थी। इसलिए ये सारे कारण इकट्ठा सक्रिय हो गए। संगठन और एकजुटता की आधुनिक धारणाएँ जाति-पूर्वाग्रहों से घुलमिल गईं। ब्राह्मणों को लगा कि यदि उन्होंने चर्बी लगे कारतूस को दाँत से काटा तो उन्हें जाति में फिर शामिल नहीं किया जाएगा, वे अपनी जातिगत उच्चता और हैसियत खो देंगे। मुसलमानों को लगा कि अगर ब्राह्मण सिपाहियों ने विद्रोह किया तो वे अलग-थलग पड़ जाएँगे। इसीलिए ये सब कारक एकजुटता में तब्दील हो गए। जब विभिन्न छावनियों में विद्रोह शुरू हुआ तो इसे सबसे ज़्यादा सफलता हिन्दुस्तानी भाषी क्षेत्र में मिली। हालाँकि विद्रोह पेशावर से लेकर असम तक हुआ, लेकिन वहाँ इसका असर बहुत सीमित रहा।

अब एक सवाल है कि दूसरे लोग विद्रोह में क्यों शामिल हुए? मुझे लगता है कि इसका संबंध उस ज़माने के वैचारिक मुद्दों और तत्कालीन जनमानस जैसे बड़े सवाल से जुड़ा हुआ है। आर्थिक कारण भी थे। तालुक़दारों को डर था कि अंग्रेज़ उनके अधिकार छीन लेंगे। उन्हें लगता था कि उनकी ज़मीनें छिन जाएँगी। महालवाड़ी प्रथा वाले क्षेत्रों में रहनेवाले किसान देश में आर्थिक शोषण के सबसे ज़्यादा शिकार थे। मालगुज़ारी बहुत ज़्यादा देनी पड़ती थी। बड़ी संख्या में किसानों की ज़मीनें व्यापारियों के हाथों में पहुँचती जा रही थीं। ज़मींदार और किसान दोनों ब्रिटिश माल के आयात से भयभीत थे। उन सबके पास ठोस कारण थे कि वे विद्रोही सैनिकों का साथ दें। यह सही है कि हम जो आर्थिक कारण बता रहे हैं, उससे ब्रिटिश अधिकारी भी भलीभाँति अवगत थे। लेकिन उसे विद्रोहियों की घोषणाओं (मुग़ल शाहज़ादा फ़ीरोज़शाह की घोषणा को छोड़कर) में साफ़-साफ़ नहीं कहा गया है। जब उसने जून 1857 में अवध की स्वतंत्रता की घोषणा की, तब मुग़ल बादशाह के महत्त्व को तरजीह दी। उसने अपनी घोषणा ज़मींदार और अवध की रियाया को संबोधित की थी। इस घोषणा में ज़मींदारों की समस्याओं पर बल दिया जाना साफ़-साफ़ स्पष्ट है। ज़मीन से संबंधित घोषणाएँ विशेष रूप से आकर्षक थीं।

इन घोषणाओं में धर्म के लिए दीन और धर्म शब्द पर ज़ोर है और विद्रोही सिपाही भी यही नारा लगाते हुए मेरठ से दिल्ली पहुँचे थे। उनका मुख्य नारा था 'दीन दीन'। यह प्रभावशाली ढंग से प्रचारित किया गया था कि ब्रिटिश सत्ता सभी हिन्दुओं को ईसाई बनाना चाहती है। इसीलिए विद्रोहियों की घोषणाओं में यह मुख्य मुद्दा आता है। लेकिन सवाल यह है कि धर्म ने ख़ुद 1857 की घटनाओं को कितना प्रभावित किया है? मैं विचार के लिए एक महत्त्वपूर्ण बात आपके समक्ष रखना चाहता हूँ कि धर्म भी बदलता है। धार्मिक लोग इस बात को कहना नहीं चाहते, लेकिन एक निष्पक्ष व्यक्ति के तौर पर यह कहा जा सकता है कि धर्म घटनाओं पर प्रभाव डालता है और घटनाएँ धर्म को प्रभावित करती हैं। मेरे ख़याल से 1857 का विद्रोह धर्म में आए बदलाव का प्रमुख उदाहरण बन जाता है। यह सही है कि कुलीन और शिक्षित समाज में उस वक़्त मुग़लों की धर्मनिरपेक्ष विरासत प्रचलन में थी। यह धारणा थी कि मुग़ल बादशाह सबों के प्रति सहिष्णु थे। हर धर्म की अंग्रेज़ों से शिकायत थी और इसीलिए दिल्ली से जारी विद्रोहियों की घोषणाओं में उन शिकायतों को विशेष रूप से स्थान दिया गया था। मुग़ल बादशाह ने भी इस पर ध्यान दिया और वे हिन्दुओं और मुसलमानों को एक समान मानते थे।

एकीकृत हिन्दुस्तान की एक और विरासत थी—मुग़ल बादशाह की प्रभुसत्ता का स्वीकार। पेशवा तक उनकी संप्रभुता स्वीकार करते थे। वे मुग़ल बादशाह के वज़ीर-ए-आज़म और वकील-ए-सल्तनत बने। सिंधिया बख़्शी-ए-अमानत बने। वास्तव में सिखों और मैसूर रियासत (हैदर अली तक तो मुग़ल बादशाह से संबंध रहा, लेकिन टीपू सुल्तान ने इसकी परवाह नहीं की।) को छोड़कर हर रियासत उनकी—मुग़ल बादशाह की—संप्रभुता का सम्मान करती थी। इसीलिए हर रियासत अपनी साख बनाए रखने के लिए मुग़ल दरबार में नज़राने पेश किया करती थी। व्यापक अर्थों नें यह एक राजनीतिक इकाई के रूप में हिन्दुस्तान की मौजूदगी की ओर ही संकेत करता है। लेकिन एक राजनीतिक इकाई के रूप में हिन्दुस्तान की बुनावट बहुत ढीली थी। 1857 की घटनाओं ने इस धारणा में बदलाव लाया। इस तरह के विकास का कारण समझने के लिए मैं दो-तीन महत्त्वपूर्ण स्रोतों का संदर्भ देना चाहूँगा। एक तो है *देहली अख़बार,* जिसके संपादक मो. वकार थे। वे शिया थे। इसके प्रकाशक और मुद्रक सैयद अब्दुल्ला थे। अगर आप 1857 के विद्रोह के पूर्व के इसके अंकों को देखें तो पाएँगे कि यह मुस्लिम पाठकों को लक्षित करता है, जो बहुत ज़्यादा धार्मिक नहीं हैं। अलबत्ता धार्मिक सभी हैं। 10 मई 1857 के पहले अख़बार के सभी अंकों में अंग्रेज़ों को सकारात्मक रूप से पेश किया गया है। चर्बी वाले कारतूस की ख़बर भी बहुत निष्पक्ष तरीक़े से दी गई है, जो काफ़ी महत्त्वपूर्ण बात थी। जब विद्रोह फूटा तो भी यह अख़बार निष्पक्ष रहा। इसकी ख़बरों से यह पता चलता है कि कैसे अंग्रेज़ों की हत्याएँ की गई थीं। लेकिन जैसे ही मुद्दे बदले, अख़बार में सब कुछ बदल गया। वह ज़्यादा धार्मिक हो गया; और ज़्यादा यथार्थवादी भी। उन्होंने जिहाद को इस्लाम से जोड़ना शुरू कर दिया और अंग्रेज़ों की तुलना चंगेज़ ख़ाँ, नादिरशाह और हलाकू से की जाने लगीं।

काम आई न इल्मो हुनर वो हिकम ओ फ़ितरत
पूरब के तिलंगों ने दिया सबको यहीं मार।

अब आप देखें कि किस तरह सैनिकों का वर्णन किया जा रहा है। उन्हें पूरब के तिलंगे कहा गया, क्योंकि ये सैनिक मुख्यतः अवध और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आते थे। इसके पहले अंग्रेज़ों की सेना में हिन्दुस्तानियों की भर्ती तटीय आंध्र के क्षेत्र से की जाती थी। इसीलिए उन्हें तिलंगी कहा जाता था। अब चूँकि बंगाल आर्मी का संबंध उनसे सदियों से था, इसलिए वे भी तिलंगी ही कहे जाने लगे। इसीलिए कहा गया :

पूरब के तिलंगों ने दिया सबको यहीं मार
हुक्काम ए मिसार कब दीन दानिशो मिट जाए
निशाँ हलक में इस तरह से इक बार।

तो यह अख़बार इस तरह बदला कि तिलंगी हिन्दुस्तान के सिपाही हो गए, साहिब और निसार गोरे और काफ़िर हो गए। एक राष्ट्रीय तनाव मौजूद था। संघर्ष सिर्फ़ धर्म की रक्षा के लिए नहीं था, बल्कि देश की रक्षा के लिए था। इसीलिए धार्मिक समुदायों से एकजुट होने के लिए कहा गया। अब मैं विलियम डेलरिंपल की पुस्तक में बिलकुल ग़लत अनूदित एक पैराग्राफ़ को उद्धृत करना चाहूँगा। (उनकी किताब तो सैकड़ों क्या हज़ारों लोग पढ़ेंगे, जबकि मेरा पाठ या मेरा यह व्याख्यान सिर्फ़ आप लोगों तक ही पहुँचेगा)। मैं मूल उर्दू पाठ को उद्धृत करता हूँ : "ऐ अहले वतन! अंग्रेज़ों की अक़्ल-ओ-तदबीर बंदोबस्त और वास्ते सल्तनत और कसरत-ए-ज़ारे ख़ज़ाना और आमदनी और ख़र्च देखकर शायद तुम्हारी हिम्मत पस्त होती हो…ऐसी सल्तनत दहफ़तन तबाह हो सकती है।"

अब विलियम डेलरिंपल इसकी व्याख्या कैसे करते हैं? वे कहते हैं कि मुस्लिम हिन्दुओं को शंका की नज़र से देखते थे। इसलिए वे अपने अनुवाद में मूल शब्द 'अहले वतन' (ओ देशवासी) को हटा देते हैं। वे क़ुरान, हदीस को ऐसी धार्मिक पुस्तकें बताते हैं मानो वे हिन्दुओं की भी धार्मिक पुस्तकें हों। सिर्फ़ वे हिन्दुओं का संदर्भ देते हैं और कहते हैं कि मुसलमान हिन्दुओं पर शक करते थे कि हिन्दू उनका साथ छोड़ देंगे। इसे असली बात को बिलकुल तोड़-मरोड़ कर पेश करना कहा जाएगा। इस परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम धर्मशास्त्रियों द्वारा एक अंग्रेज़ी इश्तिहार, जिसमें अंग्रेज़ों ने मुसलमानों से अपील की थी कि वे हिन्दुओं के ख़िलाफ़ उनका साथ दें, का माकूल जवाब दिया है। ऐसी चीज़ें हम उनकी किताब में नहीं पाते। अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के नाम एक ख़त भी जारी किया था जिसमें ईसा मसीह की बात का हवाला दिया गया था और मुसलमानों से अपील की गई थी कि वे अंग्रेज़ों से न लड़ें, क्योंकि अंग्रेज़ों की लड़ाई सिर्फ़ हिन्दुओं से है। इसमें उन्होंने यह भी कहा था कि हमने सिर्फ़ गाय की चर्बी का इस्तेमाल किया है, सूअर की चर्बी का नहीं। इस तरह उन्होंने मुसलमानों से शरीअत का हवाला देकर कहा कि हिन्दुओं के ख़िलाफ़ धार्मिक युद्ध में ईसाइयों का साथ है। इसका उत्तर क्या दिया गया है? मुस्लिम धर्मशास्त्रियों ने इसका उत्तर देते हुए एक इश्तिहार बनाया और उसे मस्जिद में अंग्रेज़ों के इश्तिहार के बग़ल में चिपकाया। इस जवाब को मैं यहाँ पूरी तरह नहीं पढ़ सकता, हालाँकि वह *देहली अख़बार* के 5 जुलाई 1857 के अंक में प्रकाशित

है। "हज़ारों लोगों को आपने दीन से बेदीन किया। और उनके धर्म और ईमान को वीरान कर डाला···आख़िर अंजाम को मुसलमान का ईमान जाता रहे और हिन्दुओं का धर्म भ्रष्ट हो···सुब्हानअल्लाह क्या ख़ूब बात कही और क्या शरीअत का धोखा दिया।" जबकि हमारा शरीअत कहता है कि अंग्रेज़ों के शासन को उखाड़ फेंकने के लिए हमें हिन्दू भाइयों का साथ देना चाहिए।

अब मैं झाँसी की रानी की चर्चा करूँगा, क्योंकि वे भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अभी तक मैं सिर्फ़ धर्म या दीन पर और उन पर विद्रोह के चलते आए दबावों की चर्चा कर रहा था। बहरहाल मैं डेलरिंपल के एक और तर्क की चर्चा करना चाहूँगा कि सभी मुसलमान, जो सैनिक नहीं भी थे; विद्रोह में शामिल हो गए; क्योंकि वे वहाबी विचारधारा से प्रेरित थे। यह तर्क भी प्रमाण आधारित नहीं है। पहली बात तो यह कि मुस्लिम सैनिकों को मुजाहिदीन नहीं कहा जाता था। प्रो. गोपीचंद नारंग इस मामले में बेहतर जानते हैं। ग़ुलाम रसूल मेहर की किताब *1857 के मुजाहिदीन* कराची से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में मुजाहिदों की सूची में ये नाम हैं : नाना साहेब, रानी लक्ष्मीबाई, कुँवर सिंह, अमर सिंह के साथ-साथ बेगम हज़रत महल, बख़्त ख़ान, अहमदुल्लाह आदि। ग़ुलाम रसूल मेहर ने लिखा है—"रानी लक्ष्मीबाई 1857 की सबसे दिलेर मुजाहिद थीं।" तो यह थी मुजाहिद की धारणा। कोई विश्वास नहीं करेगा कि ग़ुलाम रसूल मेहर ऐसी बात कह सकते हैं। इसलिए मानना चाहिए कि मुजाहिद का अर्थ वहाबी नहीं होता। मुजाहिद वो नहीं है जो आत्मघाती बम का विस्फोट करे। जिहाद का अर्थ है—एक सही उद्देश्य के लिए किया गया युद्ध। अब हम विष्णुभट्ट गोडसे के साथ रानी झाँसी की बातचीत पर ध्यान दें। वह उससे कहती हैं कि उसे आम विधवा के धर्म छोड़ने की ज़रूरत नहीं है। वह कहती है कि वह तो हिन्दू धर्म का उत्थान चाहती है। तो झाँसी की रानी के हिन्दू धर्म की धारणा क्या है? यह बिलकुल अलग है। कोई भी सोच सकता है कि विधवा का धर्म हिन्दू धर्म है, सती ही हिन्दू धर्म है। जैसा कि मैंने पहले कहा कि घटनाओं ने धर्म की अवधारणा में बदलाव ला दिया। हिन्दू धर्म का अर्थ यह हो गया कि हथियार उठा लिया जाए, मुसलमान तोपचियों को साथ लिया जाए, पठान सुरक्षाकर्मी रखे जाएँ और अंग्रेज़ों से लड़ा जाए। यह हिन्दू धर्म की बिलकुल नई अवधारणा थी। बरेली में छपी एक घोषणा में रानी झाँसी कहती हैं—"सभी हिन्दुओं को विद्रोह में शामिल होना चाहिए, क्योंकि मुसलमानों ने कहा है कि वो गो हत्या नहीं करेंगे···। मुसलमानों ने दिल्ली में यह कहा है, ख़ान बहादुर ख़ान ने यह कहा है।" इसलिए यह बिलकुल अलग अवधारणा है। विद्रोह की घटना ने यह अवधारणा

स्थापित की। यह पुरानी अवधारणा का नवीकरण नहीं है, बल्कि यह एकदम नई अवधारणा है।

चूँकि यह साहित्य अकादेमी का कार्यक्रम है, इसलिए मैं इसे कविता से ही समाप्त करूँगा। मेरी कविता का स्तर वह नहीं है, जो प्रो. नारंग ने प्रस्तुत किया है। फिर भी मैं बहादुरशाह ज़फ़र को उद्धृत करूँगा। 14 जून 1862 को भोपाल स्थित ब्रिटिश एजेण्ट ने कहा कि यहाँ के दीवान लोग बहादुरशाह ज़फ़र की एक कविता का पाठ करते रहते हैं, जो बहुत ही भड़काऊ है। वह प्रसिद्ध कविता है—

गई यक-ब-यक जो हवा पलट न दिल को मेरे क़रार है
करूँ उस सितम का मैं क्या बयाँ मेरे ग़म से दिल फ़िगार है।

मेरे ख़याल से यह राजनीतिक कविता की शुरुआत थी। धर्म ने 1857 के विद्रोह में पलीता लगाने का काम ज़रूर किया था, मगर वह ख़ुद भी विद्रोह की वजह से बदल गया। इन दोनों बातों को ज़रूर सामने रखना चाहिए। इन कविताओं में फ़रियाद-ए-हिन्द जैसी बातें कही गई हैं, इसीलिए महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को विद्रोहियों ने दूसरे अंदाज़ से देखा। विद्रोहियों ने कहा कि सैनिकों को किसी भी सूरत में अपने हथियार नहीं डालने चाहिए। हर स्तर पर प्रतिरोध जारी रखना चाहिए। कहीं भी समर्पण नहीं होना चाहिए। तो इस तरह 1857 ने एक राजनीतिक हिन्दुस्तान की अवधारणा को भी सामने ला दिया। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि वह हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र के रूप में पेश कर रहा है, पर उसमें निश्चय ही राजनीतिक स्वाधीनता और देश की एकता, तथा विदेशी शासन का ख़ात्मा, जैसी दृष्टि मौजूद थी। मेरे ख़याल से इन कारणों से 1857 में महत्त्वपूर्ण विचारधारात्मक बदलाव आए। इसका बहुत बड़ा महत्त्व है और इस पर हमारे आज के चिन्तन को अनदेखा नहीं करना चाहिए।

उपनिवेशवाद, साहित्य और स्वतंत्रता अभियान

वेदप्रताप वैदिक

सबसे पहले तो मुझे इसी पर आपत्ति है कि 1857 की घटनाओं को हम 'ग़दर', 'बग़ावत', 'विद्रोह', 'विप्लव', 'सिपाही-युद्ध', 'ख़ूनी-गड़बड़' या 'ख़ून-ख़राबा' आदि कहें। 1857 को मैं स्वाधीनता-संग्राम कहता हूँ। उसके चार मोटे-मोटे कारण हैं। एक तो मज़हब, दूसरा जात और तीसरा वर्ग—भारतीय समाज को बाँटनेवाले इन तीनों कारणों का 1857 में अतिक्रमण हो गया था। चौथा, यह संग्राम केवल मेरठ, दिल्ली, कानपुर और झाँसी तक सीमित नहीं था। इसकी लहरें पेशावर से कर्नाटक तक और कच्छ से कछार तक पहुँच गई थीं। इस संग्राम ने सारे भारत को जगाया। इसी संग्राम ने पहली बार आम लोगों में अखिल भारतीयता का भाव पैदा किया। उन्हें जात, मज़हब और वर्ग के बंधनों से ऊपर उठाया। राष्ट्र की जो सनातन चेतना शताब्दियों से हमारी परंपरा में जीवित थी, उसे 1857 ने प्राणवंत बनाया।

यहाँ मैं आपको 1857 के कुरुक्षेत्र में नहीं ले जा रहा हूँ। मैं आपको यह भी नहीं बताने जा रहा हूँ कि एक मुस्लिम बादशाह को किस तरह देश के समस्त हिन्दुओं और अनेक राजा-महाराजाओं ने भारत का सम्राट घोषित किया था और देश के मुसलमानों ने रानी लक्ष्मीबाई और ताँत्या टोपे जैसे हिन्दू योद्धाओं को मुजाहिद की उपाधि से नवाज़ा था। भारत के अमीर और ग़रीब, स्त्री और पुरुष, द्विज और शूद्र, किसान और जवान, ग्रामीण और शहरी—सबने मिलकर अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध बिगुल बजा दिया था। 1857 कोई मामूली विद्रोह नहीं था। यह संग्राम अंग्रेज़ का तख़्ता नहीं पलट पाया, यह ठीक है; लेकिन इसने ही उसके तख़्ता-पलट की मज़बूत नींव रख दी थी। क्या किसी संग्राम को ग़दर और संघर्ष को ग़द्दारी इसीलिए कह देंगे कि वह तख़्ता-पलट नहीं कर सका? क्या हम किसी घटना पर ऐसे नाम जड़ देने के लिए स्वतंत्र हैं, जो उसे हमेशा के लिए बदनाम कर

दे? भारत के लोगों ने कौन-सी ग़द्दारी की? क्या उन्होंने अंग्रेज़-भक्ति की कोई शपथ ली थी, जिसे 1857 में भंग कर दिया? नाम ग़लत रख देने से क्या काम भी ग़लत हो जाता है?

1857 के संग्राम को ये ग़लत-सलत नाम अंग्रेज़ों ने ही दिए थे। जिन अंग्रेज़ अफ़सरों ने 1857 की घटनाओं को अपनी आँखों से देखा था या जो उनके भुक्तभोगी थे, उन्होंने अपना विवरण अपने ऊँचे अफ़सरों को भेजते समय इन शब्दों का प्रयोग किया था। लंदन के अख़बारों की नज़र में भी 1857 केवल ग़दर था। ब्रिटिश सरकार की नज़र में वह ग़दर और ग़द्दारी, दोनों था। अंग्रेज़ इतिहासकारों ने भी अपनी पुस्तकों के जो शीर्षक दिए, उनमें भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है। 1857 पर सबसे पहले लिखी गई जॉन काये की पुस्तक का शीर्षक था : *ए हिस्टरी ऑफ़ द सिपॉय वार इन इंडिया 1857-58*। जॉन काये के आकस्मिक निधन के बाद जॉर्ज मालेसन ने उसी पुस्तक के जो अगले खंड प्रकाशित किए, उनका नाम रख दिया— *हिस्टरी ऑफ़ द इंडियन म्यूटिनी*। काये ने जिसे युद्ध कहा था, उसे मालेसन ने म्यूटिनी बना दिया। यही शब्द म्यूटिलेट होता हुआ भारतीय इतिहासकारों की क़लम से भी चिपक गया। चाहे डॉ. रमेशचंद्र मजूमदार हों, डॉ. शशिभूषण चौधरी हों या डॉ. सुरेन्द्रनाथ सेन हों, लगभग सभी भारतीय इतिहासकारों ने 1857 को भारत का स्वाधीनता-संग्राम कहने में कुछ-न-कुछ संकोच दिखाया है।

अंग्रेज़ों के प्रयाण के बाद भारत में राजनीतिक उपनिवेशवाद का अंत तो हो गया, लेकिन बौद्धिक उपनिवेशवाद दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा है। 1857 की औपनिवेशिकता के अनेक निन्दनीय अंश आज भी हमारी चेतना और व्यवहार के अभिन्न अंग बने हुए हैं। कुछ विलायती और कुछ भारतीय स्रोतों के आधार पर लिखी गई ताज़ातरीन किताब द *लास्ट मुग़ल* में भी विलियम डेलरिंपल ने अनेक गंभीर भूलें छोड़ दी हैं। उनके विश्लेषण और निष्कर्षों पर भी काये और मालेसन के भूत मँडराते हुए दिखाई पड़ते हैं।

अंग्रेज़ी भाषा के स्रोतों की मजबूरी तो कार्ल मार्क्स और विनायक दामोदर सावरकर के सामने भी थी; लेकिन ये दो महापुरुष ऐसे हुए, जिन्हें औपनिवेशिक मनोवृत्ति जकड़ नहीं सकी। एक सज्जन जर्मन थे और दूसरे भारतीय! दोनों में से अंग्रेज़ कोई नहीं था और यह भी कह दूँ कि दोनों में से कोई भी बाक़ायदा इतिहासकार भी नहीं था। दोनों ही मंत्र-द्रष्टा थे। मार्क्स ने तो 1857 की घटनाओं पर उसी समय लिखा। *न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून* में छपे अपने लेखों में मार्क्स ने ठोस आँकड़ों और तथ्यों के आधार पर सिद्ध किया कि अंग्रेज़ी अत्याचारों के कारण

संपूर्ण भारत बारूद के ढेर पर बैठा हुआ था। मार्क्स ने साफ़-साफ़ लिखा कि 1857 भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम था। विनायक दामोदर सावरकर ने यही शीर्षक अपने सवा छह सौ पृष्ठों के ग्रंथ का दिया था।

1857 के ठीक 50 साल बाद और अब से ठीक एक सौ साल पहले 1907 में 24 वर्षीय सावरकर ने *1857 च्या स्वातंत्र्य समरांचा इतिहास* नामक ग्रंथ मराठी में लिखा। यह अमर ग्रंथ छपने के पहले ही प्रतिबंधित हो गया। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद यूरोप में छपा। यह ग्रंथ ग़दर पार्टी, आज़ाद हिन्द फ़ौज और सशस्त्र क्रांतिकारियों की भगवद्‌गीता बन गया। मार्क्स और सावरकर की इस जुगलबंदी में एक और नाम जोड़ा जा सकता है। वह है—अर्नेस्ट जोंस का! जोंस एक लंदनवासी अंग्रेज़ था। लेखक और कवि! वह भी इतिहासकार नहीं था। यह अर्नेस्ट जोंस ही था कि जिसने ब्रिटिश साम्राज्य को शीर्षासन करवा दिया था। उसी ने लिखा था : "यह सत्य है कि ब्रिटिश साम्राज्य पर कभी सूर्य अस्त नहीं होता, लेकिन यह भी सत्य है कि उसके साम्राज्य में ख़ून की नदियाँ कभी नहीं सूखतीं।" यदि आप मार्क्स, जोंस और सावरकर—इन तीनों की कृतियाँ पढ़ें तो आप द्रवित हुए बिना नहीं रहेंगे। इनकी रचनाएँ इतिहास का इतिहास हैं और साहित्य का साहित्य हैं। वे इतिहास और साहित्य का अद्‌भुत समन्वय हैं। इसी प्रकार मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ *ग़ालिब* की *दस्तंबू* (डायरी) और विष्णु भट्ट गोडशे का *माझा प्रवास* (यात्रा-संस्मरण) 1857 का आँखों देखा हाल उपस्थित करते हैं। उर्दू और मराठी की इन कृतियों में रजनीकांत गुप्ता कृत बाद की एक बाङ्ला कृति *सिपाही युद्धेर इतिहास* (1876) को भी जोड़ा जा सकता है। सावरकर को इस कृति से काफ़ी प्रेरणा मिली थी। समकालीन कृतियों में सर सैय्यद अहमद ख़ाँ की *अस्बाह-ए बग़ावत-ए हिन्द* भी है। लेकिन उसमें एक राजभक्त की चिकनी-चुपड़ी बातों के अलावा क्या है?

इसमें शक नहीं कि पिछले पचास वर्षों में अनेक इतिहासकारों ने उन्हीं अंग्रेज़ी स्रोतों को दुबारा खँगाला है और उनमें नए भारतीय स्रोतों को भी जोड़ा है। एरिक स्टोक्स, रजत राय, ताप्ती राय, गौतम चक्रवर्ती जैसे इतिहासकारों और पी.सी. जोशी जैसे विद्वानों ने 1857 की नई व्याख्याएँ की हैं। हिन्दी और बाङ्ला की अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने इधर लोक-साहित्य के आधार पर 1857 के इतिहास को नए आयाम प्रदान किए हैं। इन नए अनुसंधानों ने मार्क्स, जोंस, सावरकर, ग़ालिब, गोडशे और गुप्ता की परंपरा को आगे बढ़ाया है। यह काम कुछ हद तक पं. सुंदरलाल और डॉ. रामविलास शर्मा पहले ही कर चुके थे। 1857 के भारतीय स्वाधीनता संग्राम से संबंधित लाखों पृष्ठों की सामग्री अब भी अछूती ही पड़ी है।

उर्दू, फ़ारसी और हिन्दी में ही नहीं, पंजाबी, बलूच, बाङ्ला, मराठी, गुजराती, ओड़िया, तेलुगु, कन्नड, तमिष़, असमिया आदि भाषाओं में अब भी अनेक पंचायतों के बही-दस्तरे और तत्कालीन पत्र-व्यवहार, मुनादियाँ, किम्वदंतियाँ, क़िस्से-कहानियाँ, कविताएँ, डायरियाँ, यात्रा-वृत्तांत आदि खोजे जा सकते हैं। अब तक स्थानीय बोलियों में भी बहुत कम अनुसंधान हुआ है। लोककथाएँ, लोकगीत, लोककलाएँ और लोकपरंपराएँ हमारे स्वाधीनता संग्राम की महान और प्रामाणिक स्रोत बन सकती हैं। शिष्ट साहित्य में हमें 1857 का दृष्टा-भाव जहाँ-तहाँ मिलता है, लेकिन लोक-साहित्य में हमें सृष्टा-भाव मिलेगा। लोक-साहित्य की रचना प्राय: उन लोगों ने की है, जिन्होंने सीधे स्वातंत्र्य-समर में खाँड़ा खड़काया है या जो सीधे स्वतंत्रता-सेनानियों से जुड़े रहे हैं। अभी सिर्फ़ डेढ़ सौ साल ही बीते हैं। इसके पहले कि हमारे प्रथम स्वाधीनता संग्राम के मूल सूचना-स्रोत बिलकुल ही सूख जाएँ, हमारे विश्वविद्यालयों, अकादमियों, शोध-संस्थानों और सरकारों को उनके दोहन के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। जैसा उत्साह 1857 में डिज़रायली और ब्रिटिश संसद ने जॉन काये के लिए और 1957 में मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद ने डॉ. सुरेन्द्रनाथ सेन के लिए दिखाया था, आज वैसा ही उत्साह सैकड़ों शोधार्थियों के लिए उक्त संस्थाओं की ओर से दिखाया जाना चाहिए। यदि 1857 पर व्यापक और गहन शोध-कार्य हों तो जो नक़्शा उभरेगा, वह भारत के लिए ही नहीं, उन सब राष्ट्रों के लिए भी लाभप्रद होगा, जो आज भी विदेशी वर्चस्व या सैन्य हस्तक्षेप से उत्पीड़ित हैं। वह अत्याचारी और अत्याचारग्रस्त, दोनों तरह के राष्ट्रों को सही दिशा दिखाएगा। अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विद्यार्थी होने के नाते मैं अकसर सोचता हूँ कि यदि 1857 का विशद और सांगोपांग विश्लेषण दुनिया के सामने रहा होता तो शायद सोवियत संघ वह ग़लती नहीं करता, जो उसने अफ़ग़ानिस्तान में की थी और जो आजकल अमेरिका इराक़ में कर रहा है।

यह खोज साहित्य और इतिहास के रिश्तों में भी नई चमक भर देगी। इतिहास-लेखन के सीधे स्रोत जब हाथ नहीं लगते तो पता चलता है कि स्वयं साहित्य इतिहास का कितना महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इतिहास और साहित्य की जुगलबंदी से कौन परिचित नहीं है? कभी इतिहास आगे चलता है तो कभी साहित्य! दोनों के हमक़दम होने के तो असंख्य उदाहरण हैं। 1857 का ज़माना उर्दू और फ़ारसी का ज़माना था। उस दौर के साहित्य में 1857 की अनुगूँज जमकर हुई थी। उस समय *पयामे-आज़ादी* और *दिल्ली उर्दू अख़बार* आम लोगों के दर्द के दर्पण बनकर उभरे। अतहर अब्बास रिज़वी के ग्रंथों से साहित्य और संग्राम की जुगलबंदी का एक आश्चर्यजनक नक़्शा हमारे सामने उभरता है।

1857 के समय हिन्दी का तथाकथित शिष्ट साहित्य शैशवावस्था में था। भारतेन्दु युग का कोई भी साहित्यकार वयस्कता भी प्राप्त नहीं कर सका था। स्वयं भारतेन्दु 1857 में सात साल के थे। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने स्वयं भारतेन्दु की तरह 'भारत दुर्दशा' का वर्णन करने में कोई कोताही नहीं की, लेकिन 1857 के बाद बने अत्यंत कठोर क़ानूनों के कारण न तो वे 1857 का महिमा-मंडन कर सके और न ही जनोत्थान का स्पष्ट आह्वान कर सके। उनकी मजबूरियाँ भी वही थीं, जो ग़ालिब और सर सैय्यद अहमद की थीं। अंग्रेज़ की कृपाकांक्षा और विरोध, ये दोनों तलवारें एक म्यान में कैसे रह सकती थीं? इसके बावजूद हिन्दी के गद्य और पद्य में अनेक मर्मस्पर्शी उदाहरण मिलते हैं। साहित्य के राजपथ पर जैसे दृश्य दिखाई पड़ते हैं, उससे अधिक रोमांचक दृश्य उसके गली-कूचों में देखने को मिल जाते हैं। हिन्दी साहित्य के स्रोतों से यह भी पता चलता है कि 1857 का कारण केवल गाय और सूअर की चर्बी के कारतूस नहीं थे और वह केवल दीन और धर्म का मामला भी नहीं था। यह मामला—1757 में हुए प्लासी के युद्ध से लेकर 1857 तक—पूरे सौ साल के सर्वांगीण शोषण का मामला था। अंग्रेज़ों के विरुद्ध बग़ावत की बत्ती 10 मई के बहुत पहले से सुलग रही थी। इसका प्रमाण महाकवि भूषण की ये पंक्तियाँ हैं :

करनाट हबस फ़िरंग हूँ विलायत
बलख रूम अरितिय छतिया दलति है।
पेसकसें भेजति विलायत पुर्तगाल
सुनि के सहमि जात कर्नाटक थली है।
गोंडवानों तिलंगानों फ़िरंगानों करनाट
रुहिलानो रुहिलन हिये हहरत हैं।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति
फिरत फ़िरंगिन की नारी फरकति हैं।

पद्माकर तो प्रेम और श्रृंगार के कवि थे, लेकिन ज़रा देखिए कि फ़िरंगियों के विरुद्ध वे भी कैसे दहाड़ रहे थे। उन्होंने दौलतराव सिंधिया को अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए ललकारा :

मीनागढ़ बंबई सुमंद मंदराज, बंग,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।
कहे पद्माकर कसकि काश्मीर हूँ को,
पिंजरसों घेरि के कलिंजर छुड़ावैगो॥

बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौ,
साजि दल झपटि फ़िरंगनि दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि पटना हुँ को झपट्टि करि,
कबहुंक लता कलकत्ता को उड़ावैगो॥

ज़ाहिर है कि हिन्दी की यह आक्रामक मुद्रा उर्दू या फ़ारसी में दिखाई नहीं देती, लेकिन उनकी मर्मान्तक बेबसी को होंठों पर लाने में हिन्दी भी पीछे नहीं है। ग्वाल कवि अपने वर्षा वर्णन में भारत के 'भूपति उमंगी कामदेव जोरजंगी' राजाओं के सामने मुजरा करनेवाले 'पावस फ़िरंगी' अंग्रेज़ों का ज़िक्र करते हैं। इन्हीं चरणचाटू अंग्रेज़ों के राज से तंग आकर कवि घासीराम क्या कहते हैं :

छाड़ कै फ़िरंगन को राज में सुधर्म काज,
जहाँ होत पुण्य आज चलो वह देश को।

बाबा दीनदयाल गिरि लिखते हैं :

पराधीनता दुख महा सुखी जगत स्वाधीन।
सुखी रमत सुक बन विषै कनक पींजरे दीन॥

यह ठीक है कि दिल्ली और उसके आस-पास 1857 के समय की खड़ी बोली के उल्लेखनीय उदाहरण कम ही मिलते हैं, जैसा कि नफ़ीस उर्दू में मिलते हैं, लेकिन राजस्थान, बिहार, मालवा आदि क्षेत्रों के साहित्य में स्वातंत्र्य की तलवार वैसी ही झनझना रही थी, जैसी कि वह मेरठ, कानपुर और दिल्ली की बस्तियों में लपलपा रही थी। महान स्वातंत्र्य-योद्धा कुँवर सिंह की प्रशस्ति में लिखा रामकवि का यह कवित्त देखिए :

जैसे मृगराज गजराजन के झुँडन पै
प्रबल प्रचंड सुंड खंडत उदंड है।
जैसे बाजि लपकि लपेट के लवान दल
मलमल डारत प्रचारत विहंड है॥
कहें रामकवि जैसे गरुड़ गरव गहि
अहि-कुल दंडि दंडि मेटत घमंड है।
तैसे ही कुँवरसिंह कीरति अमर मंडि फ़ौज
फ़िरंगानी की करी सुखंड खंड है॥

कुँवर सिंह के उत्तराधिकारी अमरसिंह के बारे में शिव कविराय ने लिखा है :

कसि के तुरंग तंग चढ्यौ जब जंग पर
अंग-अंग आनंद उमंग रंग भरिगौ
सनमुख समर विलोकि रनधीर धीर (वीर)
फ़ौज फ़िरंगाने की समेटि सोक तरिगौ
कहे शिव कवि डाँटि डाँट कपतानन कूँ
काटि काटि काकड़ी कुम्हैड़ो सौ निकरिगौ
हाथ मोचि हाकिम कहत साह लंदन सों
हाय-हाय आफ़त अमरसिंह करिगौ।

इसी तरह के अनेक लोमहर्षक उदाहरण डॉ. भगवानदास माहौर ने अपने विलक्षण शोध-ग्रंथ *1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव* में दिए हैं। 1857 के समय दर्जनों राजस्थानी कवियों ने भारतीय राजाओं को अंग्रेज़ों के विरुद्ध खड्गहस्त होने के लिए प्रेरित किया। प्रसिद्ध कवि मीसण सूरजमल ने लिखा :

सीह न बाजौ ठाकुराँ, दीन गुजारौ दीह।
हाथल पाड़े हाथियाँ, सो भड़ बाजै सीह॥

(ओ राजाओ, अब तुम्हें शेर कहलाने का अधिकार नहीं रहा। अब तुम विदेशियों की दया पर दिन गुज़ार रहे हो। शेर तो वह कहलाता है, जो थप्पड़ मारकर हाथी को भी ढेर कर देता है।)

राजस्थान का डिंगल-साहित्य और मालवा के लोकगीत ऐसी ही तेज़-तर्रार बातों से भरे पड़े हैं। बैंसवाड़ी, मालवी, ब्रजभाषा और पंजाबी आदि बोलियाँ अपनी मिठास के लिए जानी जाती हैं, लेकिन स्वातंत्र्य-समर के दौरान आप उन्हें तेज़ाब उगलते हुए पाएँगे। 1857 से संबंधित ऐसी असंख्य रचनाओं को पढ़ने और सुनने का मौक़ा मुझे मिला है। उन्हें आज यहाँ दोहराना असंभव है, लेकिन मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि समस्त भारतीय भाषाओं और बोलियों में उपलब्ध 1857 के संदर्भों को एकत्रित करने का व्यापक अभियान चलाया जाए तो मुझे विश्वास है कि इतिहासकारों को नई दिशा मिलेगी। वे शायद इस अकाट्य निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे कि 1857 का स्वातंत्र्य-संग्राम केवल बहादुरशाह, ताँत्या टोपे, लक्ष्मीबाई और अवध के नवाबों जैसे सामंतों के निजी स्वार्थों की लड़ाई नहीं था, बल्कि संपूर्ण भारत की राष्ट्रीय आकांक्षा का विस्फोट था। हमारे इतिहासकारों और भावी भारत के निर्माताओं को यह पता चलेगा कि 1857 का स्वातंत्र्य-संग्राम हमारे लिए कौन-

सी कार्य-सूची छोड़ गया है? शोषणमुक्त समाज, असांप्रदायिक राजनीति और जातिभेद रहित भारत की उद्भावना करने वाला 1857 आज भी हमारे लिए प्रेरणा का प्रबल स्रोत है। अपनी जातीय स्मृति को सुरक्षित रखने और उसे अपने भविष्य का प्रकाश-स्तंभ बनाने में साहित्य अद्वितीय भूमिका निभा सकता है।

अब तक हुए अनुसंधानों से तो लगता है कि 1857 ने लगभग 50 साल तक हिन्दी साहित्य को सहमाए रखा। भूषण, पद्माकर, रामकवि, कवि शिवराय, सूरजमल जैसी वाणी अगले लगभग पाँच दशकों तक सुनने को ही नहीं मिली। यहाँ भारतेन्दु की

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जनबल नासी।
जिन भय सिर न उठाय सकत कहू भारतवासी॥

या 'ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनंद उमगे गात' जैसी रचनाओं और प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक जैसे अन्य साहित्यकारों की रचनाओं की मीमांसा करना मुझे ज़रूरी नहीं लगता। हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध समालोचकों ने यह काम पहले ही भली-भाँति कर रखा है। यहाँ केवल दो साहित्यकारों का उल्लेख करना ज़रूरी है। एक पं. बालकृष्ण भट्ट, जो भारतेन्दु से सात साल बड़े थे और दूसरे बालमुकुंद गुप्त, जो भारतेन्दु से 15 साल छोटे थे। इन दोनों साहित्यकारों ने अपना तेवर वही रखा, जो 1857 का था। उनकी रचनाओं में वही निर्भय निनाद सुनाई पड़ता है, जो उनसे पहले अर्नेस्ट जोंस और उनके बाद सावरकर की रचनाओं में था। 1882 के बालकृष्ण भट्ट ने लिखा : "हमारा कथन है कि राजभक्ति और प्रजा का हित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है? जैसे हँसना और गाल फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई बजाना एक संग नहीं हो सकता, ऐसे यह भी असंभव है।" राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और सर सय्यद अहमद ख़ाँ जैसे लोगों पर कटाक्ष करते हुए भट्ट जी लिखते हैं : "बनारस, अलीगढ़ आदि स्थानों में दो-एक ऐसे महापुरुष कुलबोरन उपज खड़े हुए हैं जो स्वार्थ-लंपटता के आगे देश के हित पर कुल्हाड़ा चला रहे हैं।" उन्हें चेतावनी देते हुए भट्ट जी कहते हैं कि वे 'राजभक्ति और प्रजाहित' में से किसी एक को चुनें। ऐसी ही निर्ममता बालमुकुंद गुप्त ने अपनी कविताओं और लेखों में दिखाई है। गुप्त जी ने अपने *शिवशंभु के चिट्ठे* में लॉर्ड कर्जन की जैसी धुनाई की है, वैसी धुनाई स्वतंत्र भारत के साहित्यकार और पत्रकार भी अपने समसामयिक शासकों की नहीं कर पाते। क्या आपातकाल में किसी ने बालमुकुंद गुप्त जैसे लेख लिखने की हिम्मत दिखाई?

बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त जैसे साहित्यकारों को किसी सरकारी वज़ीफ़े या पेन्शन या सम्मान या ओहदे की हाजत नहीं थी। उनके दिलों में 1857 के संग्राम की लपटें धू-धू करके जल रही थीं। बालमुकुंद गुप्त ने लॉर्ड कर्जन पर प्रहार करते हुए (11 अप्रैल 1903) लिखा : "आप जब से भारत पधारे हैं, माई लॉर्ड बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कुछ करने योग्य काम किया है, ख़ाली अपना ख़याल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिए कुछ कर्तव्य पालन किया।...आप बार-बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मेमोरियल हॉल और दूसरा दिल्ली दरबार। पर ज़रा सोचिए तो यह दोनों काम शो हुए या ड्यूटी?" गुप्त जी ने 21 अक्तूबर 1905 को लिखा : "भारतवासियों के जी में यह बात जम गई कि अंग्रेज़ों से भक्तिभाव करना वृथा है, प्रार्थना करना वृथा है और उनके आगे रोना-गाना वृथा है। दुबले की वह नहीं सुनते।" गुप्त जी ने अपनी कविताओं में सशस्त्र क्रांति का भी आह्वान किया। भट्ट जी और गुप्त जी, दोनों को ही सरकार और पत्र-मालिकों का कोपभाजन बनना पड़ा। अख़बार बंद करने पड़े, नौकरियाँ छोड़नी पड़ीं।

बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त को आप अगर केवल पत्रकार मानें और साहित्यकार न मानें तो और बात है। लेकिन हिन्दी पत्रकारिता के बिना हिन्दी साहित्य की हैसियत ही क्या रह जाती है? हिन्दी साहित्य ही क्यों, हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास के बिना क्या भारत की स्वाधीनता का इतिहास लिखा जा सकता है? स्वाधीनता-पूर्व के वर्षों में हम ऐसे कितने साहित्यकार देखते हैं, जो पत्रकार न रहे हों? यह भेद आजकल के साहित्यकारों और पत्रकारों पर कुछ हद तक लागू किया जा सकता है, लेकिन स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में लोग पत्रकार, साहित्यकार और स्वाधीनता सेनानी—इन तीनों की भूमिका एक साथ निभाते थे। इस दृष्टि से हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास अत्यंत गौरवशाली है। भट्ट जी के *हिन्दी प्रदीप* और गुप्त जी के *भारतमित्र* और *हिन्दी बंगवासी* के काफ़ी पहले से हिन्दी पत्रकारिता ने स्वाधीनता की रणभेरी बजा दी थी। हिन्दी का पहला पत्र 30 मई 1826 को निकला। कलकत्ता से प्रकाशित इस पत्र का प्रारंभ पं. जुगलकिशोर शुक्ल ने 'हिन्दुस्तानियों के हित' के लिए किया था। डेढ़ साल के पहले ही वह बंद हो गया। 1854 में हिन्दी का पहला दैनिक *समाचार सुधावर्षण* अंग्रेज़ सरकार की नाक के नीचे यानी कलकत्ते से ही निकला। इस पत्र के संपादक श्यामसुंदर सेन ने लगातार जन-असंतोष की ख़बरें खुलकर छापीं। 1857 की सशस्त्र मुठभेड़ों की ख़बर छापने में भी इस अख़बार ने कोई कोताही नहीं की।

मेरठ की घटनाओं के बाद ठीक 16वें दिन 26 मई 1857 के *समाचार सुधावर्षण* ने लिखा : ''साम्राज्य में जब संकट पड़ा तब गवर्नर ने अनेक वायदे किए, लेकिन विद्रोही सेना का उन वायदों पर कोई विश्वास नहीं। वे युद्ध को समाप्त करने के पक्ष में नहीं। सच्ची बात तो यह है कि युद्ध में दम आ रहा है और अनेक क्षेत्रों की जनता सेना में मिल रही है।'' यहाँ इस अख़बार ने 1857 को बग़ावत नहीं, युद्ध कहा है और वह भी जनता का युद्ध! जून 1857 के अंकों की ख़बरों और टिप्पणियों से सरकार इतनी भयभीत हो गई कि उसने संपादक श्यामसुंदर सेन को अदालत में घसीट लिया। सेन बरी हुए और देश में चल रहे लोकयुद्ध की ख़बरें बराबर छापते रहे। उनकी ख़बरों से पता चलता है कि स्वातंत्र्य-संग्राम डेढ़-दो साल तक चलता रहा, न कि लॉर्ड केनिंग के अनुसार : ''1 जुलाई 1958 को 'ग़दर' समाप्त घोषित हो गया।'' *समाचार सुधावर्षण* की तरह 1859 में इंदौर से शुरू हुआ *मालवा समाचार* भी जन-संघर्ष की ख़बरें छापता रहा।

1857 के स्वाधीनता संग्राम के समय, उसके पहले और बाद में हिन्दी पत्रकारिता की जो भूमिका रही, उस पर *हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम* के प्रथम खंड से मोटी-मोटी जानकारी तो मिलती है, लेकिन अब से 31 साल पहले जब मैंने इस ग्रंथ की योजना बनाई तो मेरे सामने लक्ष्य 1857 नहीं था। अब ज़रूरी है कि 1857 की दृष्टि से ही हिन्दी की पुरानी पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ा जाए और उन पर व्यवस्थित शोध किया जाए। मुझे पूरा विश्वास है कि यह शोध इतिहासकारों के लिए जानकारी का नया ख़ज़ाना खोल देगा।

1857 को साहित्य में वही स्थान मिलना चाहिए, जो *रामायण* और *महाभारत* के प्रसंगों को मिला है। 1857 का कथानक *रामायण* और *महाभारत* के कथानकों से किसी तरह कम नहीं है। उसके पात्र, उनका अंतर्द्वन्द्व और उनके उतार-चढ़ाव किसी भी महान् और अमर साहित्यिक कृति का विषय हो सकते हैं। 1857 पर लिखी गई कोई भी महान् कृति भारतीय इतिहास का विलक्षण स्रोत बन सकती है और भारत के भविष्य को तय करने में अग्रणी भूमिका निभा सकती है।

सैन्य विद्रोह और साहित्यिक कल्पना का समाजशास्त्र*

सीताकांत महापात्र

भारतीय इतिहास में 1857 एक युगांतरकारी मोड़ था। यह सैन्य विद्रोह ब्रिटिश आधिपत्य के विरुद्ध बहुत कुछ संगठित विशाल स्तर का आक्रमण था। इसका विस्तार और इसकी प्रकृति लिखित इतिहास का विषय है। 1857 के प्रारंभिक काल में बैरकपुर और बेहरामपुर में असंतोष से शुरू होकर यह मेरठ जैसे अन्य केन्द्रों में फैल गया। विद्रोह के प्रमुख केन्द्र कानपुर, लखनऊ, दिल्ली, मध्य प्रांत तथा उत्तरी और पूर्वी भारत के अनेक भाग थे। आतंक और अत्याचार, दिल्ली में क़त्लेआम और ख़ून की होली और अंग्रेज़ों द्वारा की गई बदले की कार्यवाइयाँ अभूतपूर्व थीं। विलियम डेलरिंपल की रचना *दि लास्ट मुग़ल : दि फ़ाल ऑफ़ ए डायनेस्टी* दिल्ली की दुर्दशा का चित्रण करती है; यह हिन्दुस्तान के अंतिम राष्ट्रीय सम्राट, शायर और ख़ुशनसीब बहादुर शाह ज़फ़र की, और प्रख्यात शायर मिर्ज़ा ग़ालिब की कहानी कहती है; इसमें उस काल की घटनाओं के वे वृत्तांत हैं, जो *टाइम्स* के संवाददाता विलियम हार्वर्ड रसेल ने लिखे थे। अस्सी वर्षीय दार्शनिक और ग़ज़लों के आशिक़ बहादुर शाह ज़फ़र को हिन्दुस्तान का शहंशाह घोषित कर दिया गया था, हालाँकि उनकी हुकूमत लाल क़िले तक ही सीमित थी। अपमान और देश-निकाले के रूप में उनको इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी; उनके दो बेटों को निर्ममता से मार दिया गया और अपने अंतिम पीड़ादायक दिन बर्मा की मांडला जेल में बिताने पड़े थे।

अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अनेक विद्रोह पहले भी हो चुके थे : 1816 में बरेली विद्रोह, पाँचवें दशक के प्रारंभ में मोपला विद्रोह और 1855 में सिदो और कान्हू के नेतृत्व में संताल विद्रोह। अंतिम पर ज़बरदस्त बर्बरता की छाप थी और यह स्थानीय भूस्वामियों, सूदख़ोरों तथा अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ था। सेना ने लगभग पच्चीस हज़ार

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

संतालों की हत्या करके इसे कुचल दिया था। परंतु आकार, उग्रता और भौगोलिक विस्तार एवं इतिहास पर पड़ने वाले प्रभाव की नज़र से कोई भी 1857 के बराबर नहीं। भारत में अंग्रेज़ी राज को यह पहली प्रत्यक्ष और शक्तिशाली चुनौती थी—'शासित' चुनौती दे रहे थे शासकों को। इस रूप में यह भारतीय इतिहास में एक संक्रांतिकाल था, एक निश्चयात्मक उपनिवेश विरोधी, एक निश्चयात्मक वक्तव्य था। घटना के प्रमुख केन्द्र से दूर ओड़िशा राज्य के विभिन्न भागों में अंग्रेज़ी राज के ख़िलाफ़ अनेक चुनौतियाँ उभरकर सामने आई थीं। इनके नेताओं में प्रमुख थे : संभलपुर के सुरेन्द्र साइ, पुरी के चाखी खुंतिया और पोदाहाट के अर्जुन सिंह। ओड़िशा विद्रोह के कारण अंततः राज्य का विघटन हो गया। संभलपुर केन्द्रीय प्रांत का हिस्सा बन गया और गंजाम, कोरापुट और आसपास के कुछ क्षेत्र मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हो गए।

1857 के विद्रोह का अर्थ क्या था? क्या यह—जैसा कि कार्ल मार्क्स ने न्यूयॉर्क *डेली ट्रिब्यून* के अपने लेखों में कहा था—एक राष्ट्रीय विद्रोह था? अथवा, जैसा कि काये से लगाकर अधिकतर ब्रिटिश इतिहासकार और बेख़बर तमाम अंग्रेज़ सत्ताधारी मानते थे, यह सिर्फ़ सिपाहियों की बग़ावत थी? अगर यह सिपाहियों की बग़ावत थी तो इसके पीछे वजह क्या थी? क्या यह उभार एक आकस्मिक आवेग था? क्या उत्तेजना का एकमात्र कारण चिकने कारतूस थे, या इसके पीछे कोई गहरी, सुनियोजित अभिसंधि थी? विद्रोह के थोड़े समय बाद ब्रिटिश संसद को संबोधित करते समय डिज़रायली को यह पक्की तौर पर पता नहीं था कि सिपाहियों के उत्तेजित होने का वास्तविक कारण क्या था। क्या इसका प्रारंभ धर्म के लिए युद्ध के रूप में हुआ था और अंत स्वतंत्रता के लिए युद्ध के रूप में? विद्रोह का लक्ष्य क्या एक एकीकृत, राजनीतिक रूप से स्वतंत्र और प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की स्थापना करना था?

अपनी पुस्तक *दि सिपाही म्यूटिनी एंड रिवोल्ट ऑफ़ 1857* में विख्यात इतिहासकार आर. सी. मजूमदार अंतिम दृष्टिकोण से पूरे तौर पर असहमत हैं। इसकी राष्ट्रीय व्याख्या कदाचित सबसे पहले वी. डी. सावरकर ने की थी। 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *दि इंडियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस* में उन्होंने विद्रोह का चित्रण अंग्रेज़ों के विरुद्ध हिन्दुओं और मुसलमानों के एकताबद्ध युद्ध के रूप में किया था, जिसका उद्देश्य धर्म और देश दोनों की विधर्मियों से रक्षा करना था। सावरकर की व्याख्या में देशभक्ति की उच्च भावनाओं पर ज़ोर दिया गया और अवसर को सांप्रदायिक भावना से आच्छादित किया गया था।

इसमें कोई अचरज की बात नहीं कि 1857 को इतनी तरह से देखा गया है और इतने विविध प्रकार के अर्थ दिए गए हैं। दूसरों के लिए इसके अर्थ और महत्त्व को देख पाना कठिन था, क्योंकि शासक के विरुद्ध शासित की यह पहली गंभीर चुनौती थी। निश्चित रूप से भारतीय इतिहास में इसका अद्वितीय स्थान है। प्रतिरोध व्यापक स्तर पर था और पहले के अन्य विद्रोहों की तरह यह सीमित नहीं था। मेरठ से दिल्ली और दूसरे स्थानों पर यह जंगल की आग की तरह फैल गया। विलियम डेलरिंपल ने भारत के अभिलेखागार में विद्रोह संबंधी काग़ज़ात का अध्ययन करने के बाद अपनी पुस्तक में लिखा है कि मेरठ की घटनाओं के अगले दिन, 11 मई से दिल्ली शहर किस तरह से बँट गया था, जबकि 'हिन्दुस्तान के शहंशाह' बनने पर राज़ी होकर आख़िरी मुग़ल शहंशाह बहादुरशाह ज़फ़र शानोशौकत के भ्रम में फँस गए थे। बहुत जल्दी ही यह साफ़ हो गया कि विद्रोह ने बेहद धार्मिक रंग ले लिया है और इसके प्रारंभिक शिकारों में वे भारतीय भी थे, जो ईसाई बन गए थे और कुछ जो अंग्रेज़ी चर्च से जुड़े थे। ग़ालिब ने लिखा था, ''शहंशाह बेबस था, वह उनको खदेड़ नहीं सकता था, उनकी फ़ौजों ने उनको चारों ओर से घेर लिया था, और वह उनके दबाव में आ गया, वह उनसे ऐसे घिर गया था; जैसे चंद्रमा ग्रहण से घिर जाता है।'' यह रूपक कदाचित शायर-शहंशाह और विद्रोहियों के संबंध में महान शायर के सोच की ओर इशारा करता है।

1857 से पहले भारत एक राष्ट्र नहीं था और, राष्ट्र शब्द के आधुनिक अर्थ में, 1857 के परिणामस्वरूप भी नहीं बना। लेकिन इसने उन भावनाओं को पैदा कर दिया था, जो देशभक्ति के एक नए शक्तिशाली भाव पर निर्मित राष्ट्रवाद के बहुत निकट था। देशभक्त वह है, जो अपनी धरती, अपने समाज, अपनी पहचान के लिए लड़ता है, और उनकी रक्षा का प्रयास करता है। 1857 ने, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह से, उस नए मूल्य को अनुप्राणित किया, जिसको बाद में भारत को स्वाधीनता की ओर ले जाने वाले लंबे स्वाधीनता-संग्राम के दौरान देशभक्ति के रूप में सम्मानित किया जाना था। इस अर्थ में 1857, चाहे आप इसे विद्रोह कहें अथवा प्रथम स्वाधीनता-संग्राम, निस्संदेह अंग्रेज़ीराज को पहली बड़ी चुनौती था और विदेशियों के ख़िलाफ़ देश की सर्वोच्चता एवं पुनीतता के दावे का पहला स्पष्ट संवेग था। तमाम भारतीय भाषाओं में लिखे गए देशभक्तिपूर्ण साहित्य में अंग्रेज़ों को बाहरी लोगों के रूप में देखा गया था। कुछ रचनाओं में एक समुदाय (हिन्दुओं) को महिमामंडित करने के लिए पुराने मिथकों को नया रूप दिया गया। प्राच्यवादियों के प्रिय प्रमेय, हिन्दू भारत, में मुसलमानों को हमलावरों और मुस्लिम राज को बाहरी

लोगों के राज के रूप में देखा जा सकता था। साहित्यिक उड़ान धीरे-धीरे इन तरह-तरह की भावनाओं, जैसे कि उत्पीड़क-उत्पीड़ित संलक्षण और भीतरी-बाहरी संलक्षण, का विचित्र मिश्रण बन गई।

विद्रोह दबा दिए जाने और दोनों ओर से बर्बरता का अंत हो जाने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू बुद्धिजीवियों तथा मुस्लिम अभिजात वर्ग दोनों के बीच सन्नाटा छा गया। विद्रोह का असर धीरे-धीरे नीचे जा रहा था। बंगाली कवि ईश्वर चंद्र गुप्त और गुजराती कवि नर्मद की रचनाओं में इस पर प्रसन्नता व्यक्त की गई थी कि सत्ताधारियों ने विद्रोह दबा दिया है। जिन लोगों की सहानुभूति सिपाहियों के उद्देश्य और उनके विद्रोह से थी, उन्होंने इससे इंकार किए बिना, अपनी भावनाओं को छिपाते हुए, मौन रहना पसंद किया। समाज के बहुत से महत्त्वपूर्ण लोग अनेक प्रकार से अंग्रेज़ों के ऋणी थे। कुछ तो अंग्रेज़ों के प्रत्यक्ष लाभार्थी थे। सत्ताधारियों के अधीन कुछ पदाधिकारी भी थे। दूसरे, विचारधारा के स्तर पर किसी प्रकार यह महसूस किया गया था कि अंग्रेज़ी राज सामंती प्रतिक्रिया के विरुद्ध उदार प्रगतिशीलता का पक्षधर रहा है। उदारवादी युग के कुछ क़दमों, जैसे कि सती प्रथा का दमन, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा का विस्तार इत्यादि, को उदार युग के प्रारंभ और अंग्रेज़ीराज के लाभ के रूप में देखा गया। कदाचित इस प्रकार की कुछ आशंकाएँ भी थीं कि विद्रोह का समर्थन करने से ये सकारात्मक रूप समाप्त हो जाएँगे। विद्रोह के प्रति बंगाली बुद्धिजीवियों के दृष्टिकोण का सार प्रस्तुत करते हुए विनय घोष ने कहा था कि विद्रोहियों और उनके उद्देश्यों का समर्थन करना उस समय उन तमाम सिद्धांतों और आदर्शों (अर्थात सामाजिक एवं धार्मिक) को नकारने के बराबर था, जिनके लिए बुद्धिजीवी आधी सदी से अधिक से संघर्ष करते आ रहे थे। कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालय भी 1857 में ही खोले गए थे। वे अंग्रेज़ी शासकों के साथ इसलिए थे कि प्रतिक्रिया के अपार संसाधनों के विरुद्ध अपनी लड़ाइयाँ अंग्रेज़ों के समर्थन से ही जीती थीं। मध्यम वर्ग बेहद स्तब्ध था। वह विद्रोह के, तात्कालिक और दूरगामी दोनों, निहितार्थ समझ नहीं सकता था—इसके लिए साहित्यिक उपकरण गढ़ना तो दूर की बात थी। मध्यम वर्ग और अभिजात वर्ग की साहित्यिक कल्पना के समाजशास्त्र ने एक उलझा हुआ प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया था। यह इस चीज़ को नहीं देख पाया था कि सिपाही रेजीमेंट ने अपने यूरोपियन अफ़सरों की पहली बार हत्याएँ की थीं, और कि एक-दूसरे के प्रति अपने वैर-भाव को भूलकर हिन्दू और मुसलमान अपने समान मालिकों के ख़िलाफ़ एकजुट हो गए थे। धीरे-धीरे, पर लगातार यह महसूस किया जाने लगा कि विद्रोह के पीछे कोई सामंती प्रतिक्रिया या सैनिक

असंतोष नहीं था, बल्कि कुछ दूसरी नवजात शक्ति, एक वह शक्ति थी जिसे बहुत कम महसूस किया गया और जो बहुत सुस्पष्ट नहीं थी : एक बीज के समान थी, भविष्य में जिसे एक विशाल वृक्ष के रूप में विकास करना था। 1857 जैसे बड़े भारी आघात के प्रति साहित्यिक सृजन को स्वरूप ग्रहण करने में कभी-कभी समय की आवश्यकता होती है। तात्कालिक झटका और विभ्रम मानस में ठोस आकार लेने और व्यक्त करने योग्य विषय तथा भाषाई ढाँचे का निर्माण करने का काम धीरे-धीरे करता है।

1857 को जनाधार और जनता को विद्रोह का नेतृत्व करने वाले व्यक्तित्वों— नाना साहेब, झाँसी की रानी, राजा बेनी माधव, कुँवर सिंह तथा देश के विभिन्न भागों के अन्य नेताओं—में मिथक मिल गए थे। वे धीरे-धीरे लोक-कथा बन गए। हालाँकि जहाँ अधिकतर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी चुप और उदासीन रहे थे, वहीं अल्पज्ञात लोक कवियों ने बहुत से देशभक्तिपूर्ण गीतों की रचना की। सशस्त्र संघर्ष की याद, बाद में बदले की कार्रवाई की बर्बरता; और वह नई भावना तथा आशा; जिसे विद्रोह ने आम इंसान के दिमाग़ में भर दिया था, उसे समय के साथ बढ़ना ही था; और लोक-गीत उभरने लगे। उस रानी को जो बहादुरी से लड़ी थी, उस नायक को जो बंदीगृह से बच निकला, उस बुजुर्ग शायर को जिसे कारावास और बर्मा में देश-निकाले की सज़ा मिली थी और जो संयोग से शहंशाह था, और उसके बेटों की निर्मम हत्या को, जनमानस ने पूजा और सिर आँखों पर बिठाया। देश के विभिन्न भागों में रचित लोकगीत प्रमाण हैं अपनी धरती के प्रति नए प्रेम और बाहरी शासकों के विरुद्ध आक्रोश के। झाँसी की रानी के शौर्य और महान कार्यों का विशेष तौर पर उल्लेख किया गया। वे झकझोरने वाले अनेक लोकप्रिय गीतों की प्रेरणा बनीं। सर ह्यूम रोज़ के शब्दों में वह ''विद्रोहियों की सबसे बहादुर और सबसे अच्छी नेता थीं।'' देशभक्तिपूर्ण कविता साहित्य की एक नई शैली के रूप में उभरी। गौरवशाली राजपूत दिनों की यादों के साथ राजस्थान सबसे आगे था और इसके अगुआ थे सूर्यमल्ल मीसण। शिवाजी का गुणगान करते हुए महाराष्ट्र में ऐसी कविताएँ बड़ी भारी संख्या में लिखी गईं। पाइक और संताल विद्रोह की स्मृति में ओड़िशा में इस प्रकार की कुछ लोक-कविताओं की रचना हुई। सूर्यमल्ल राजस्थान के अंतिम और सबसे बड़े चारण कवि थे। राजस्थान के चारणों के गीत, महाराष्ट्र और ओड़िशा की लोक-कविताएँ 1857 की गाथाओं की हृदयस्पर्शी, प्रेरणायी रचनाओं में सम्मिलित हैं।

उदाहरण के लिए कुँवर सिंह को ही लें। 75 साल की अपनी उम्र के बावजूद उन्होंने घमासान युद्ध किए। बाहर की स्थानीय बोली में उनके महाकार्यों का

गुणगान करते अनेक लोक-गीत घर-घर में गाए जाने लगे थे। उनको एक सुंदर-सी लोरी में याद किया गया है। पी.सी. जोशी और उनके साथियों ने बड़ी मेहनत से इन लोकगीतों का संग्रह किया है, जो अत्यंत विविधतापूर्ण हैं। विद्रोह को दबाने के लिए प्रयुक्त बर्बरता और इसका सामना करने वाले नेताओं के साहस तथा देशभक्ति की उनकी भावनाओं ने मौन रहे मध्यमवर्ग तक को झकझोर दिया। धीरे-धीरे परंतु निश्चित रूप से यह प्रवृत्ति फैलती गई। बाद में स्वतंत्रता संग्राम ने जनसाधारण के इस विशाल बलिदान को अपनी स्मृति में सहेजकर रख लिया था।

इस काल की एकमात्र साहित्यिक कृति एक सुविज्ञ और अपने समय के सबसे बड़े रचनाकार ग़ालिब की फ़ारसी में लिखी डायरी *दस्तंबू* है। इस महान शायर का रुख़ उल्लेखनीय तौर पर दोतरफ़ा है। प्रोफ़ेसर शिशिर दास ने सही ही कहा है, ''यह दस्तावेज़ महत्त्वपूर्ण न केवल इसलिए है कि यह दिल्ली के उथल-पुथल भरे दिनों का, और वो भी अपने ज़माने के सबसे बड़े शायर का, आँखों देखा वृत्तांत है, बल्कि इसलिए भी कि यह एक प्रतिकूल राजनीतिक वातावरण में रह रहे लेखक की दुर्गति को दर्शाता है।''

11 मई से 15 सितंबर, 1857 के तूफ़ानी दिनों का सजीव चित्रण डेलरिंपल ने किया है। 18 सितंबर को अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर दोबारा कब्ज़ा कर लिया था। हो सकता है कि ग़ालिब की वास्तविक सहानुभूति विद्रोहियों के साथ रही हो, लेकिन कदाचित वह इतने तो होशियार थे ही कि इसे छिपाकर रखते।

विद्रोह के प्रति ग़ालिब के रुख़ को लेकर *दस्तंबू* की तरह-तरह से व्याख्याएँ की गई हैं। क्या वह सिर्फ़ एक मूक दर्शक थे? क्या वह दोनों ओर की बर्बरता से दुःखी थे? अपनी विशेष स्थिति के चलते क्या उन्होंने इसमें ज़रूरी फेरबदल की थी और अपनी आंतरिक भावनाओं को छुपाया था? बहरहाल उनकी भावनाएँ छिपी हुईं, मेहनत के साथ परतों में लपेटी गईं और टेढ़ी-तिरछी थीं। अवध के शेख़ इमामबख़्श और कानपुर के मीर अली रश्क जैसे औसत शायरों ने, जिनका इतना नाम नहीं था, अपनी बात बेलाग ढंग से कही थी और अपनी सच्ची भावनाओं को बेहिचक व्यक्त किया था। सारांश यह है कि जहाँ लोक-कवियों एवं कम ज्ञात कवियों ने अपनी रचनाओं में घटना का उत्साहपूर्वक कीर्तिगान किया, वहाँ अधिक जाने-माने और उनमें सबसे बड़े रचनाकार अपनी रचनाओं में अगर चुप नहीं तो द्विमुखी और मितभाषी तो थे ही।

महान विद्रोह का उपन्यासीकरण*

तपोधीर भट्टाचार्य

1857 की घटनाओं को नाम देने से संबंधित बहस में शब्दावली की राजनीति की प्रमुखता है। अपने अंग्रेज़ मालिकों के विरुद्ध क्या यह देशी सिपाहियों का विद्रोह था अथवा विदेशी अत्याचारियों के ख़िलाफ़ उत्पीड़ित जनता की बग़ावत—इसको लेकर काफ़ी लंबे अरसे से ज़ोरदार बहस चल रही है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह उपनिवेशकों के ख़िलाफ़ उपनिवेशित जनता के विद्रोह की प्रथम अभिव्यक्ति थी। इस तरह की बहसों के संदर्भ में विभिन्न वैचारिक स्थितियों से अनेक शोध परियोजनाएँ चलाई गईं। आम तौर पर बंगाली उच्चवर्ग और ख़ास तौर पर साहित्यकारों की प्रतिक्रिया हमेशा ही एक कष्टकर और पेचीदा विषय रही है। इस आलेख में हमारा सरोकार इससे है कि 1857 के महान भारतीय विद्रोह के प्रति बंगाली उपन्यासों के क्षेत्र में साहित्य की प्रतिक्रिया क्या रही है।

एक ओर थे हिन्दू देशभक्त के माध्यम से स्वतंत्रता के पक्षधर हरिश्चंद्र मुखोपाध्याय। 21 मई, 1857 को उन्होंने लिखा था : ''एक भी भारतवासी ऐसा नहीं, जो उन कष्टों के पूरे बोझ को महसूस नहीं करता, जिनको भारत में अंग्रेज़ी राज की मौजूदगी-मात्र ने थोप दिया है। इन कष्टों को विदेशी राज की दासता से अलग नहीं किया जा सकता।'' दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाली उच्च वर्ग का विशाल बहुमत दासता के पक्ष में था, क्योंकि उनके वर्गहित पूरी तरह से भारत में अंग्रेज़ी राज के लगातार बने रहने से जुड़े थे। इसका सबसे बुरा उदाहरण उस काल के मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के प्रतिनिधियों के निम्नलिखित मुद्रा में व्यक्त होता है जिसे अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन म्यूटिनी* (खंड 1, पृष्ठ 612) में उद्धृत किया गया था, ''महामहिम, आप भली-भाँति जानते हैं कि हम बंगाली लोग कायर हैं।''

---

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

उस काल के बंगाली उच्च वर्ग की अनुत्साहपूर्ण या विरोधी प्रतिक्रियाएँ निश्चित रूप से आश्चर्य का विषय हैं। इतिहास का हमारा अध्ययन बड़े तौर पर यूरोपीय इतिहासकारों और उनके भारतीय अनुयायियों के पूर्वाग्रह और आत्मपरक दृष्टिकोणों से प्रभावित है। इन तमाम हालात के बावजूद, बंगाल के कुछ उपन्यासकारों ने अपनी औपन्यासिक चर्चाओं में 1857 की घटनाओं को एक विषय के रूप में लिया है। लेकिन औपन्यासिक लघु जगत में इसकी उपस्थिति से अधिक अनुपस्थिति नज़र आती है। बंगाली उपन्यास के जनक बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने अपना पहला कथा प्रबंध (*दुर्गेश नंदिनी*) 1865 में (अर्थात इस महान घटना, जिसने बुद्धिजीवियों की आधारशिला तक हिलाकर रख दी होगी, के केवल सात साल बाद) प्रकाशित कराया था। अपने कुछ उपन्यासों में बंकिम चंद्र ने देशभक्ति की भावना को ग्रहण किया था, परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि विद्रोह का कोई भी उल्लेख न करने के मामले में वह हमेशा बहुत सावधानी से काम लेते थे। हाँ, बाद में उन्होंने विख्यात *आनंदमठ* लिखा था, जिसको बाद में इस अनुपस्थिति की काल्पनिक क्षतिपूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी महाकृति *गोरा* बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में लिखी थी, पर तब तक अंग्रेज़ी राज नियति बन चुका था। यह नोट करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि विद्रोह के दौरान नायक को आइरिश पिता-माता के वंशज के रूप में चित्रित किया गया है। पुनर्संकल्पित राष्ट्रीयता के संदर्भ में अपनी पहचान के बारे में उसका महान कथन वर्णात्मक युक्ति में अपूर्व है। बाङ्ला में शैली के अनेक उत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं, परंतु स्रोत-सामग्री के लिए ये लेखक यदाकदा ही महान विद्रोह की ओर मुड़े हैं। अतः सामूहिक स्मृति-लोप से जन्मी अनुपस्थिति लगातार बनी रही है।

हाल के अनुसंधानकर्ताओं ने कम प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं पर प्रकाश डाला है। ये हैं : *चित्तबिनोदिनी* (1874) लेखक गोविन्दचंद्र घोष, *नाना साहेब* (1879) लेखक उपेन्द्रचंद्र मित्र, जिसका दूसरा संस्करण 1881 में प्रकाशित हुआ था और जिसमें शीर्षक को फैलाकर *भारतेर सुखस्वप्न नाना साहेब* कर दिया गया था। हम इस तथ्य पर ध्यान दे सकते हैं कि *आनंदमठ* 1882 में, अर्थात उपेन्द्रचंद्र के उपन्यास (प्रथम संस्करण) के तीन वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। प्रसिद्ध नाटककार गिरीशचंद्र घोष ने 1884 में *चंद्रा* नामक एक उपन्यास लिखा था, जिसमें ऐतिहासिक और कथात्मक तत्त्वों का बेहिचक इस्तेमाल किया गया था।

1888 में चंडी चरन सेन ने *झाँसीर रानी* लिखा, जिस पर अंग्रेज़ी राज की गाज गिरी और इसे ज़ब्त कर लिया गया था। उसी साल शरद प्रसाद मुखोपाध्याय ने एक *शंकर* नामक उपन्यास लिखा और 1889 में नागेन्द्रनाथ गुप्ता ने अपना उपन्यास *अमरसिंह* प्रकाशित कराया था।

इनके अतिरिक्त दो अन्य ग्रंथ हैं : प्रसन्नमयी देवी का *अशोक* (1890) और बरदकांत सेनगुप्ता का *हेमपर्व* (1894)। स्पष्ट है कि आलोचकों ने इन रचनाओं को कभी ध्यान दिए जाने योग्य नहीं माना। बाङ्ला उपन्यासों के इतिहास में इनका महत्त्व नहीं होने के चलते इनकी विषय-वस्तु एवं चरित्र-चित्रण पर कभी गंभीरता से विचार नहीं किया गया। इन रचनाओं को कदाचित उपन्यासकारों के रचना-शिल्प के कारण निचले दर्जे का माना गया। लेकिन इनकी अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़, काल-विषयक चेतना पर विचार किया जाना चाहिए। समकालीन पाठक की जिज्ञासा इतिहास और कथा के अंतरावलंबन में हो सकती है, लेकिन इस प्रकार का पाठक इन उपन्यासों में ऐतिहासिक सटीकता की आशा नहीं करेगा। इसके विपरीत पाठक तलाश करेगा उपन्यासीकरण की प्रक्रिया की तथा इतिहास एवं कथा के निरंतर वार्तालाप के द्वारा इसके बहुस्वरीय वर्णन में इसकी सफलता अथवा विफलता की।

इस संदर्भ में हमारा ध्यान काफ़ी हद तक महाश्वेता देवी खींचती हैं। संभव है कि *झाँसी की बहादुर रानी लक्ष्मीबाई* कोई औपन्यासिक रचना नहीं हो, परंतु इसके इस दावे को अनदेखा नहीं किया जा सकता है कि यह कथा के रूप में इतिहास है। यह उपन्यास महान विद्रोह का अद्‌भुत साहित्यिक प्रतिनिधि है, जिसमें कोई वैचारिक उत्कर्ष बिन्दु भी खोज सकता है, जिसके कथात्मक इतिहास के काल-विषयक प्रतिनिधीकरण को वास्तविक ऐतिहासिक काल और स्थान के समयोचित संवाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्तियों को वास्तविक देश एवं काल के साथ मुखर किया जाता है। पाठक उस दिलचस्प सृजनात्मक पद्धति पर ध्यान दिए बिना नहीं रह सकता है, जिसके द्वारा कथात्मक देश एवं काल और चरित्र की रचना एक-दूसरे के संबंध में की गई है। उपन्यासीकरण की प्रक्रिया में भारतीय इतिहास के एक अत्यंत दिलचस्प काल को पर्याप्त रूप से संपन्न कर दिया गया है।

अत्याचारी दूसरों का विरोध, अपर्याप्त निज से प्रश्न : संग्राम से सत्याग्रह तक*

सितांशु यशश्चंद्र

1857 की घटनाओं को अनेक प्रकार से याद किया जाता रहा है और आज भी किया जा रहा है। इनके साथ जुड़ी संस्मृतियों, वर्णनों तथा नामकरण के खेलों के अपने ही लाक्षणिक नाटक हैं। यह उतना ही गंभीर है अथवा—यदि आप स्वीकार करें, तो—उतना ही घातक है, जितनी थीं 1857 की ऐतिहासिक घटनाएँ। इन घटनाओं का अध्ययन इन संस्मृतियों के अध्ययन के बिना अधूरा है, क्योंकि उनका गठन करनेवाली संस्मृतियाँ एवं वर्णन तथा नामकरण की विभिन्न पद्धतियाँ, एक मायने में, 1857 के युद्ध को हमारे दरवाज़े पर लाकर खड़ा कर देती हैं। संस्कृत में कहा गया है : *युद्धस्य कथा रम्या*—युद्ध की कथाएँ आकर्षक हैं। इस बात को यह कहने के लिए रूपांतरित भी किया जा सकता है कि *युद्धस्य कथा युद्धो।* संस्मृतियाँ और वर्णन अपने युद्ध छेड़ते और जारी रखते हैं, जो उनका उद्देश्य होते हैं। इस संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है : क्या संस्मृति-प्रबंध पद्धतियों में से कुछ अतीत में हारे हुए युद्धों को जीतने के लिए नई रणनीतियों का आविष्कार करती हैं; और नए अस्त्र गढ़ती तथा कुछ नए सहयोगियों की तलाश करती हैं?

यह आलेख इसी प्रश्न से संबंधित है।

1857 की स्मृतियों या संस्मृतियों को स्वतःस्फूर्त ढंग से तथा विविध प्रकार के उपकरणों का सोच-समझकर इस्तेमाल करके जीवित रखा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 1857 की घटनाएँ विजेता और विजित दोनों पक्षों के लिए अत्यंत गुरुतर एवं महत्त्वपूर्ण रही थीं, अँग्रेज़ और भारतीय दोनों ही इनको भुलाकर कूड़े में नहीं फेंक सकते हैं। लेकिन 1857 की घटनाएँ और घटना का 1857 औपनिवेशिक सत्ता तथा भारतीय प्रजा दोनों के लिए बेहद अस्पष्ट रहे हैं कि इसको पूरी तरह से,

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

या यों कहें कि 'काले-सफ़ेद' में, समझ पाना कठिन है। यह इतना गुरुतर, इतना महत्त्वपूर्ण और इतना अस्पष्ट है कि इसे न तो फेंका या भुलाया जा सकता है और न ही पूरी तरह से बचाया अथवा समझा जा सकता है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं के लिए 1857 की 'समकालीनता' आज भी बनी हुई है और एक हद तक इंग्लैण्ड के लिए भी इसकी 'समकालीनता' समाप्त नहीं हुई है।

लेकिन मूल युद्धों के स्थान पर नए युद्धों को ला दिया गया है, जिनके परिणाम मूल की तरह के नहीं हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि स्मृति, सिद्धांत और भाषा के मैदानों में लड़े जा रहे इन युद्धों पर पाला बदलने, सहयोगी बदलने, नया गुट बनाने और नई क़तारबंदियाँ खड़ी करने की छाप है। हमारे सांस्कृतिक इतिहासकारों को इसका अध्ययन करना चाहिए और इसके बारे में हमारे कवियों, कथाकारों और फ़िल्म निर्माताओं को लिखना चाहिए।

रूपांतरित स्मृति-संदर्भ में यहाँ 1857 को पुन:स्थापित करने के ऐसे दो प्रयासों का उल्लेख करना उपयोगी हो सकता है। पहला है, *तांबेकारनो वाडू* नाम की हवेली और वडोदरा (गुजरात) में सुरक्षित भित्ति-चित्र। तांबेकर बड़ौदा के गायकवाड़ों के यहाँ दीवान था, और भित्ति-चित्र 1857 के बाद के हैं। इन चित्रों में एक युद्ध दिखाया गया है, जिनमें यूरोपीयनों को खुली जगह में, पैदल सिपाहियों की अनुशासित क़तारों को महत्त्वपूर्ण ठिकानों पर लगी तोपों और तोप के गोलों के साथ चित्रित किया गया है और उनके बीच पश्चिमी लिबास में बैठी यूरोपीयन महिलाओं को प्रदर्शित किया गया है। अपनी रक्षा करते हुए भारतीय लोग क़िले के भीतर हैं। लड़ाई जारी है, कोई भी पक्ष हार या जीत के क़रीब नहीं है। परंतु बाद में 1970 या इसके आसपास 'वाडा' का उपयोग एक प्राथमिक पाठशाला के लिए किया जाने लगा। सिरों में ढेर-सा तेल लगे छोटे-छोटे छात्र उन्हीं दीवारों के सहारे आराम करते थे, जिन पर भित्ति-चित्र बने हैं और फिर शुरू हो गई एक नई लड़ाई—तेल वाले बालों और तैल चित्रों के बीच—जिसमें जीत साफ़ तौर पर पहले वालों की हुई। परंतु बाद में इसको सरकारी संरक्षण में ले लिया गया और भित्ति-चित्र को बचा लिया गया।

दिलचस्प बात यह है कि गायकवाड़ों (जिन्होंने ऐतिहासिक रूप से *ग़दर* में भाग नहीं लिया था) के एक मंत्री ने अपनी हवेली में इस तरह के सैनिक मुक़ाबले के विषर्य पर भित्ति-चित्र तैयार कराया था। यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वाडा के दीवारों पर बने भित्ति-चित्रों में युद्ध चल रहा है, जिसमें जीत न तो उपनिवेशकों की हुई है, न ही उपनिवेशियों की। अतः यह एक लगातार चलनेवाली लड़ाई है।

1857 की लड़ाइयों में भी, जैसा कि इस चित्र में दिखाया गया है, भारतीयों की इतनी पूरी तरह हार नहीं हुई थी। ये लड़ाइयाँ निर्णायक तौर पर 1947 में भी

जीती नहीं गई हैं और जैसा कि चित्र दिखलाता है, यह एक हमेशा चलनेवाला संघर्ष है।

इस थोड़े से समय में 1857 की जिस एक अन्य रचना पर विचार कर सकते हैं वह गाँधी के काल में लिखा गया एक उपन्यास है। 1930-40 के दशक के एक अत्यंत लोकप्रिय उपन्यासकार रमनलाल देसाई द्वारा रचित इस उपन्यास का नाम है *भरेलो अग्नि* अर्थात प्रच्छन्न अग्नि। यह 1857 की घटनाओं का आदर्शवादी वर्णन है। इसमें पूर्ववर्ती काल पर गाँधीवादी काल के मूल्यों और उपायों को थोप दिया गया है; जबकि यह अध्यारोपण (उदाहरण के लिए, 1857 के भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों के एक पितातुल्य व्यक्तित्व रुद्रदत्त हिंसा के दुतरफ़ा प्रभाव का वर्णन करने के दौरान औपनिवेशिक अत्याचार के विरुद्ध प्रतिरोध के अस्त्र के रूप में अहिंसा तथा आत्मत्याग को देखते और उस ओर चलते हैं) अपने-आप में लेखक का कथन है। उल्लेखनीय है कि अपने उपन्यास को लेखक *भरेलो अग्नि*, वह आग कहता है जो अभी सोई हुई है, पूरी तरह से बाहर नहीं आई है, बस दुबारा धधकने की प्रतीक्षा कर रही है।

1857 को अनेक नाम दिए गए हैं : ग़दर, बलवा, विद्रोह, सैन्यद्रोह, बग़ावत, स्वतंत्रता-संग्राम। प्रत्येक नाम घटना की एक विशिष्ट व्याख्या की ओर इंगित करता है। प्रत्येक एक संपूर्ण व्याख्यात्मक क्रियापद्धति प्रस्तुत करता है। लेकिन गुजराती उपन्यासकार इसे एक नया नाम देता है, *भरेलो अग्नि*। एक आग जो न तो धधक रही है और न ही बुझी है—आग जो बार-बार भड़क उठती है, एक अप्रत्याशित आग, एक संभावना, एक प्रच्छन्न शक्ति।

1857 को संभवतया अधिक से अधिक भारतीय अथवा किसी भी अन्य उपनिवेशित, उत्पीड़ित एवं शोषित जनता की संभावना के रूप में समझा जा सकता है। इस उपन्यासकार ने जिस ओर इंगित किया है उनका विद्वानों और सिद्धांतकारों द्वारा गहराई से अध्ययन किया जा सकता है।

इससे एक नया प्रश्न उठ खड़ा होता है : अपने सर्जनात्मक कार्यों में उपन्यासकार और कवि ऐतिहासिक तथ्यों से विचलित क्यों होते हैं? कुछ कदाचित पर्याप्त जानकारी न रखते हों और उनकी नज़र देश-विदेश के उपन्यासों के आम बाज़ारों पर लगी हो। लेकिन ऐसा सब नहीं करते। कुछ साहित्यिक रचनाओं में ऐतिहासिक तथ्यों से विचलन एक सोचा-समझा संकेतक भी हो सकता है, जो सांस्कृतिक इतिहास के किसी महत्त्वपूर्ण क्षण में किसी दूसरे विकल्प की ओर इंगित करता हो।

संस्मृतियों और इनके वर्णनों का एक दूसरा पक्ष भी है, जिन पर ध्यान देना उपयोगी हो सकता है। उस पक्ष का संबंध स्मृति के धुँधलाने और वर्णन को बचाने

से है। इस तकनीक का इस्तेमाल कवियों और उपन्यासकारों द्वारा एक प्रकार के स्थान का सृजन करने के लिए किया जाता है।

भारत का एक महान प्रारंभिक उपन्यास *सरस्वतीचंद्र* सर्वप्रथम 1857 के तीन दशक के भीतर 1887 में प्रकाशित हुआ था। यह हमें वह स्थल उपलब्ध कराता है, जहाँ हम उस विचारशील एवं महत्त्वपूर्ण बचाव के उन कार्यों का अवलोकन कर सकते हैं, जिनके द्वारा एक संस्कृत और जनसाधारण स्वयं आत्मविश्लेषण तथा आत्मसंशोधन करके परिपक्वता की एक अन्य अवस्था प्राप्त करते हैं।

सरस्वतीचंद्र चार खंडों का उपन्यास है। तीसरे खंड में इसके लेखक गोवर्द्धनराम त्रिपाठी उन्नीसवीं सदी के मध्य के सौराष्ट्र के एक छोटे परंतु स्वाधीन राज्य का संदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिसके सामने दो रास्ते हैं—या तो वह विद्रोहियों का साथ दे अथवा 1857 के संघर्ष से अलग रहे। विद्रोह के मराठा नेता नाना साहेब का दूत उसके दरवाज़े पर है। उसकी छोटी-सी सेना के सारे राजपूत कमांडर विद्रोहियों का साथ देने को उत्सुक हैं। उसका ब्राह्मण मंत्री जराशंकर उसको वह चुनने की सलाह देता है, जिसे वह दोनों में से छोटी बुराई कहता है। वह कहता है कि यदि मराठे जीत जाते हैं तो वे गुजरात को लूटते रहेंगे और अगर अंग्रेज़ जीतते हैं तो उसकी स्वतंत्रता छीन लेंगे, एक क़ानूनी तौर पर अभिरक्षित संधि कर लेंगे। उपन्यास के अनेक अध्यायों में यह दर्शाया गया है कि दोनों पक्षों के कुछ कथन सही थे। दोनों में से कोई भी पूरी तरह से ग़लत नहीं था। राजा लंबे समय तक हिचकिचाता रहा और फिर दोनों प्रस्ताव रखे—सावधानीपूर्ण व्यवहार, और मराठों के प्रति संघर्ष में तटस्थता। तत्पश्चात् लेखक दिखाता है कि राजा के कुछ राजपूत ठाकुर निर्णय से किस प्रकार असंतुष्ट थे और अंग्रेज़ों, गायकवाड़ मराठों तथा स्थानीय राजा की संयुक्त सेना के विरुद्ध भगोड़े बन गए। लेकिन उपन्यास के पाठकों की समझ में यह आता है कि गुजराती और गुजराती-भाषी अंग्रेज़, दोनों ही राजा के बचाव के, और दोनों पक्षों, विद्रोहियों के समर्थन एवं विरोधी विचारों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाले अध्याय थे। उपन्यास के इस खंड की पांडुलिपि को तीन साल तक कोई मुद्रक नहीं मिल सका था, और 1890 के दशक में जब यह अंततः प्रकाशित हुआ, अहमदाबाद और बंबई में भारी अफ़वाह थी कि उपन्यासकार गोवर्द्धनराम को बंबई के गवर्नर ने राजद्रोह के आरोप में गिरफ़्तार करा दिया है।

गवर्नर ने न तो त्रिपाठी को गिरफ़्तार किया और न ही उनकी पुस्तक पर रोक लगाई, लेकिन 1908 में एक अन्य गुजराती पुस्तक पर रोक लगा दी। इसकी दक्षिण अफ़्रीका से बंबई पहुँचने वाली सभी प्रतियों को ज़ब्त कर लिया गया। युवा मोहनदास करमचंद गाँधी द्वारा लिखित इस पुस्तक का सीधा-सादा नाम था— *हिन्दस्वराज।*

गाँधी ने *हिन्दस्वराज* की रचना उन अनेक भारतीय क्रांतिकारियों—श्यामजी कृष्ण वर्मा, सरदार सिंह राना, मैडम भीकाजी कामा तथा अन्य—के साथ गंभीर बातचीत के कई दौर चलाने के बाद की थी, जिनसे वह अपनी लंदन यात्रा के दौरान मिले थे। इसमें कोई बचाव नहीं है, फिर भी यह पुस्तक औपनिवेशक राज के विरुद्ध हथियारबंद संघर्ष के भारतीय समर्थकों के विचारों और संदेहों को स्पष्ट एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करती है।

1857 का महत्त्व भारत तक सीमित नहीं। 1857 ब्रिटेन के भी भविष्य और इससे आगे के लिए भी महत्त्वपूर्ण हो सकता था—यह जानने के लिए कि कैसे एक मौलिक फ्रांसीसी विचारक, गिलेस देलेउज़े की ओर मुड़ना उपयोगी होगा। देलेउज़े ने 'भौतिक द्वैतवाद' की आलोचना प्रस्तुत की है, जो "यह सिद्धांत है कि उत्पादन अराजक या निष्क्रिय पदार्थ पर विधिवत व्यवस्था है।" (देखिए : जॉन प्रोटेवी, 2001, *पॉलिटिकल फ़िज़िक्स,* पृ. 1)। "मिश्रता सिद्धांत, पदार्थ के स्व-व्यवस्थीकरण की धारणा के द्वारा देलेउज़े उत्पादकता की वैकल्पिक समझ सामने लाते हैं।" (वही, पृ. 1) यहाँ विरोध है "अराजक पदार्थ पर रूप के निर्माता की दृष्टि के दुर्बोध अध्यारोपण" और उन 'अव्यक्त रूपों' के बीच, जो उस पदार्थ के स्व-व्यवस्थीकरण की क्षमता रखते हैं, जिसके द्वारा कारीगर काम करता है, जैसे कि लकड़ी का काम (वही, पृ. 7)। जैसा कि प्रोटेवी ने कहा है कि 'दस्तकारी' और 'स्थापत्यीय' उत्पादन और राजनीति की संघटित (या अवयवी) संस्था की धारणा के बीच के अंतर पर ध्यान केन्द्रित करना उपयोगी है (वही, पृ. 115)—चाहे यह प्लेटो, अरस्तू, हेरिंडेगेर की रचनाओं में हो अथवा हमारे मामले में 1857 के पाठ के संबंध में।

1857 की घटनाओं को इस नज़र से देखने से यह देख पाना संभव हो जाता है कि पूर्व-आधुनिकता की शक्तियों और पुरानी सामंती व्यवस्था की चीज़ों के बीच संघर्ष की संभावना विद्यमान थी, जो संभवतया अंतर्राष्ट्रीय, अधिराष्ट्रीय, भूमंडलीय राजनीतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था की ओर ले जाती। साथ ही यह देख पाना भी संभव हो जाता है कि 1857 उत्पादन की 'दस्तकारी' और 'स्थापत्यीय' उत्पादन पद्धतियों के बीच का संघर्ष था। यहाँ उत्पादन था एक 'भारत'। अत: 1857 की घटनाओं को आज समझना हमारे लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना 1857 और आज के बीच के काल के साहित्यिक लेखकों और इतिहासकारों के लिए रहा है।

1857 की घटनाओं और 1857 परिघटना को यदि हम दो प्रकार की उत्पादन पद्धतियों—'दस्तकारी' और 'स्थापत्यीय' उत्पादन पद्धतियों—के बीच के संघर्ष के

रूप में देखते हैं, तो भारत के 1857 संबंधी आत्मबोधों में से बहुत कुछ अर्थवान हो जाता है।

औपनिवेशिक ब्रिटिश शासक एक ओर तो विद्रोहियों को पराजित करने और कुचलने में लगे थे, दूसरी ओर उसी काल में वे मुंबई, कोलकाता और चेन्नई में विश्वविद्यालय खोल रहे थे। दोनों घटनाओं को कभी-कभी एक ही सिक्के के दो पहलुओं के तौर पर देखा जाता है। मैं ज़ोर देकर कहना चाहूँगा कि दोनों घटनाओं को एक ही सिक्के के एक ही पहलू के तौर पर देखा जाए। भारत के लिए यह नक़ली सिक्का साबित हुआ।

कारण यह है कि भारतीयों और उनकी संस्कृति के लिए दोनों घटनाएँ भौतिक-द्वैतवादी थीं। पहली थी (जैसा कि औपनिवेशिक ब्रिटिश शासक दावा करते थे) भारत के राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में ''व्याप्त अराजक पदार्थ पर औपचारिक व्यवस्था का अध्यारोपण''; और दूसरी थी (विश्वविद्यालय की स्थापना) भारतीय मानसिक जीवन के क्षेत्र में निष्क्रिय पदार्थ पर उसी प्रकार की औपचारिक व्यवस्था का अध्यारोपण।

भारतीय शासकों—हिन्दू और मुस्लिम दोनों—के अनेक अपराध थे। इनमें से कुछ उनके अपने और जिन लोगों पर वे राज करते, उनके लिए भी घातक थे। लेकिन यदि यह कहा जाता है कि इन अपराधों में 'स्थापत्यीय अध्यारोपण' के अपराध शामिल नहीं थे, तो यह कथन पूरे तौर पर ग़लत नहीं होगा।

वास्तव में यह सब इसलिए हुआ कि औपनिवेशिक शासकों ने भारतीय संस्कृति और जीवन के उस स्वभाव के ही विरुद्ध जाना प्रारंभ कर दिया था, जो 1857 से पूर्व के दसियों दशकों से बना हुआ था और विद्रोह इसके ख़िलाफ़ था : 1857 वह काल था, जिसमें भारत ने पश्चिम के भौतिक द्वैतवाद के विरुद्ध पहली बार विद्रोह किया था।

1857 को पूरे और सही तौर पर याद करना, 1908 के साथ इसके संबंध को याद करना और पहचानना है।

इस सम्मिश्रित संस्मृति, इस अभिज्ञान से हमें यह सोचना और सुनिश्चित करना चाहिए कि कोई कंपनी सरकार, या कोई बहुराष्ट्रीय कंपनी सरकार, भारतीय जनता को ग़लती से अराजक और निष्क्रिय पदार्थ मानकर इस पर अपनी स्थापत्यीय इरादे नहीं थोपती है।

1857 के संग्राम से क्या हम 1908 के सत्याग्रह की ओर कूच कर रहे हैं और 1947 के संसदीय जनतंत्र पर ही रुक रहे हैं ? यहाँ तक सच्चा हिन्द स्वराज्य को जन्म नहीं दिया जा सकता है। अगर हम जनता की तरह स्वतंत्रता में जीने की आशा करते हैं तो हमें इस प्रश्न के साथ जीना चाहिए।

1857 : उपनिवेशवाद और आज़ादी

शंभुनाथ

1857 भारत के राष्ट्रीय इतिहास की एक बड़ी घटना है। इसकी व्याख्या पहले भी कई तरह से की गई थी और आज भी की जा रही है। 1857 आज भी ज़ेरे बहस है। हम जानते हैं कि अतीत की जीवन शक्तियाँ हर जाति को अनुप्राणित करती रहती हैं। इसी तरह अतीत के प्रेत भी आसानी से पीछा नहीं छोड़ते। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है, यदि आज 1857 के संदर्भ में पुनः इस तरह के निष्कर्ष निकाले जाते हैं कि यह विद्रोह सफल हो जाता तो भारत पिछड़ जाता, आधुनिकीकरण के रास्ते पर आगे बढ़ नहीं पाता, नई शिक्षा का विकास नहीं होता और देश कूपमंडूक रह जाता।

साम्राज्यवाद से प्रभावित सभी इतिहासकारों और 1857 के व्याख्याताओं ने इसे सिर्फ़ अंग्रेज़ सरकार और विद्रोही सैनिकों के बीच संघर्ष के रूप में देखा है। उन्होंने बताना चाहा है कि सिपाही विद्रोह के दौरान सत्ता से बेदख़ल किए गए बादशाहों–ताल्लुक़दारों, कुछ अपराधी जातियों और बदमाशों ने ही वस्तुतः अपने तुच्छ निजी स्वार्थ पूरे करने के लिए हिंसा की। 1857 के ऐसे व्याख्याताओं को यह मानने से एतराज़ है कि आम जनता के मन में भी किसी तरह का कोई आक्रोश था। एक अन्य कोटि के 1857 के व्याख्याता तो हिन्दुत्ववादी हैं, जिन्होंने गाँधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह आंदोलन को कभी स्वीकार नहीं किया। इसी तरह भारतीय नवजागरण और 1857 भी उनके दिमाग़ में बेगानी घटनाएँ हैं। उनकी दृष्टि में 1857 सफल हो जाता तो भारत पुनः मुसलमानों के हाथ में चला जाता। 1857 पर लांछन का यहीं अंत नहीं होता। फुले 1857 की लड़ाई में हिन्दी क्षेत्र के दलितों की भागीदारी लक्षित नहीं कर पाए थे। उनकी और आज के कुछ दलित चिन्तकों की राय है कि 1857 सफल हो जाता तो भारत ब्राह्मणों के हाथ में चला जाता, धार्मिक सत्ता मज़बूत होती और अंग्रेज़ों के राज में दलितों को शिक्षा, सुरक्षा और आधुनिक विकास के जो अवसर मिले थे, वे छिन जाते।

अंग्रेज़ों के 1757 से 1857 तक के नस्ली भेदभाव, लूट और अत्याचारों से भरे शासन के कच्चे चिट्ठे जब सर्वविदित हों और जब यह बिलकुल स्पष्ट हो चुका हो कि भारत में न्याय, आज़ादी और सभ्यता के नाम पर उन सौ वर्षों में अंग्रेज़ एशियाई उपमहाद्वीप में ही नहीं दुनिया के ग़ुलाम बनाए गए तमाम देशों में क्या कर रहे थे, तब भी हमारे देश में आज भी ऐसे सुशिक्षित बुद्धिजीवियों की कमी नहीं है, जो मानते हैं कि अंग्रेज़ी राज में 'सुशासन' था। अंग्रेज़ों का सुगठित और सुव्यवस्थित प्रशासन न होता तो 'भारत जैसे लद्धड़, निकम्मे, भविष्यहीन समाज' को सामंती चंगुल से निकाल पाना असंभव था। ये बातें नई नहीं हैं और पहले भी कही जाती थीं। पता नहीं, ऐसे अनोखे चिन्तकों की दृष्टि में भारत आज वैश्वीकरण और प्रौद्योगिक क्रांतियों के युग में, 1857 के डेढ़ सौ साल बाद, सामंती चंगुल से निकल चुका है या नहीं।

कहना न होगा कि 1857 की साम्राज्यवाद से प्रभावित और हिन्दुत्ववाद से प्रभावित व्याख्याओं में कोई मूलभूत फ़र्क़ नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने *अंधेर नगरी* में काफ़ी पहले इस विडंबनापूर्ण स्थिति पर टिप्पणी कर दी थी, ''हिन्दू चूरन इसका ऩाम, विलायत पूरन इसका काम।'' इसका उल्टा भी उतना ही सच है, साम्राज्यवाद अपनी दीर्घ उपस्थिति के लिए हिन्दुत्ववाद और ऐसी ही दूसरी कट्टरताओं और भेदभावों को उकसाता है। किसी भी समाज में साम्राज्यवाद और कट्टरवाद की जुड़वाँ उपस्थिति आर्थिक-सांस्कृतिक महाविनाश ही लाती है। यह जितना पहले समझने की ज़रूरत थी, उतना ही आज भी। इस दृष्टि से 1857 एक आलोक-स्तंभ ही नहीं, एक प्रस्थान-बिन्दु भी है।

1857 से पहले भी देश में अंग्रेज़ी राज के ख़िलाफ़ किसानों और मज़दूरों के विद्रोह हो चुके थे, जिन्होंने 1857 की पृष्ठभूमि बनाई। मुश्किल यह है कि 'यदि 1857 का विद्रोह सफल हो जाता' के रट्टू तोता इस पृष्ठभूमि पर कभी ग़ौर नहीं करते और उपनिवेशवाद को 'जस्टीफ़ाई' करने के लिए एक 'निगेटिव हाइपोथिसिस' ही बार-बार दुहराते हैं। इसी तरह 1857 के पहले ही 'सेकुलर' या धर्मनिरपेक्ष चिन्तन कट्टरवाद को झकझोर चुका था। राम मोहन राय के नेतृत्व में आया नवजागरण जितना धर्म आधारित था, उतना ही भारतीय अर्थ में धर्मनिरपेक्ष था—वह नवजागरण भारत के सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए नहीं था। उस ज़माने में जितने धार्मिक विमर्श चल रहे थे और सुधार कार्य हो रहे थे, उनमें तार्किकता के अलावा एक खुलापन भी था, समावेशिकता भी थी। शिक्षित लोग देश की जातीय समस्याओं पर बहस कर रहे थे। 1857 से पहले हिन्दी-फ़ारसी-बाङ्ला-अंग्रेज़ी चतुर्भाषी या हिन्दी-उर्दू और हिन्दी-

बाङ्ला द्विभाषी अख़बार निकलने शुरू हो गए थे। इस प्रकार अंग्रेज़ी राज और कट्टरतावाद दोनों से संघर्ष अस्तित्व में थे। मुश्किल सिर्फ़ यह थी कि जो समुदाय अंग्रेज़ी राज से विद्रोह कर रहे थे, वे अभी कट्टरतावाद विरोधी नहीं थे और आधुनिकता की अवधारणाओं से जुड़ नहीं पाए थे और जो वर्ग या तबक़े धीरे-धीरे कट्टरवाद या कूपमंडूकता से विद्रोह करके आधुनिकता की अवधारणाओं से जुड़ रहे थे, वे अंग्रेज़ी शिक्षा के क़र्ज़ और अंग्रेज़ी राज के सम्मोहन से इतने दबे थे कि वे 1857 के विद्रोह के राष्ट्रीय सार को न समझ सकते थे और न उसमें भगत सिंह जैसा कुछ बनकर हिस्सा ले सकते थे।

निश्चय ही 1857 की व्याख्या करते समय हमें अंग्रेज़ी राज के संग्राम छेड़नेवाले विद्रोहियों की राष्ट्रीय बेचैनी और संग्राम के हाशिए पर रह गए शिक्षित लोगों की बुद्धिवादी मुश्किलों दोनों को और दोनों की जटिलताओं को समझना होगा।

1857 के दौर में शिक्षित व्यक्ति दुविधा की स्थिति में थे। उनके सामने प्रश्न था—स्वतंत्रता चाहिए या आधुनिकता? आज जिस तरह बहुराष्ट्रीय कंपनियों और वैश्वीकरण को आशाभरी नज़रों से देखा जा रहा है, उन्नीसवीं सदी के नई शिक्षा हासिल किए हुए नौजवानों ने भी अंग्रेज़ी राज, रेल-तार का जाल बिछानेवाली विदेशी कंपनियों को आशा-भरी नज़रों से देखा था। एक अद्‌भुत आकर्षण और भय से भरी हुई दुनिया, जैसा आज हमारे जीवन-संसार में घुसी चली आ रही है, उन्नीसवीं सदी में भी एक नई दुनिया ने चढ़ाई की थी। दुविधा की जैसी घड़ी आज है, तब भी थी।

इसलिए 1857 में अंग्रेज़ी राज से जो टकरा रहे थे, वे अनपढ़ किसान या इनके घरों के सिपाही थे। बंगाल और कुछ हद तक महाराष्ट्र के शिक्षित-संपन्न भारतवासी जब धार्मिक स्थलों पर प्रार्थना कर रहे थे कि उस लड़ाई में अंग्रेज़ों की जीत हो जाए, उस समय किसान चाहते थे कि अंग्रेज़ों को देश से खदेड़ दिया जाए। इस देश की किसान जनता के मन में बादशाहों और ताल्लुक़ेदारों से ज़्यादा असंतोष और आक्रोश था। यह असंतोष और आक्रोश काफ़ी पुराना था—इस तथ्य को भुलाकर 1857 पर कोई सार्थक चर्चा नहीं हो सकती। 1857 का महत्त्व यह है कि इसने काफ़ी खोलकर स्पष्ट कर दिया कि भारतीय समाज में 'उदासीनता' नहीं है, इसमें पर्याप्त प्रतिरोधात्मकता है। भारत एक संरक्षणशील देश है और पूरी दुनिया इसका आँगन है—यह ग्रहणशील है, पर यह प्रतिरोध भी करता है।

आज के दिनों में किसान और आदिवासी या विकास की वजह से विस्थापन झेलते लोग जब अपने खेत, ज़मीन और अस्मिता के लिए लड़ रहे होते हैं, एक बार और लगता होगा कि ये विकास को रोक रहे हैं, भारत को पिछड़ा रखना चाहते हैं। इनकी असफल लड़ाइयाँ और वैश्वीकरण की दिग्विजय कुछ-कुछ 1857 के दिनों को ताज़ा कर सकती हैं। आज पुनः लग सकता है कि किसानों के आंदोलन या अस्मिता की लड़ाइयाँ उदारीकरण की प्रक्रिया को उलटनेवाली हैं। हालाँकि 1857 की एक बड़ी भूमिका यह है कि इसने उस मध्यवर्ग के पूरे परिप्रेक्ष्य को बदलने में एक बड़ी भूमिका अदा की। 1857 के विद्रोह को जिस निर्मम और अमानुषिक ढंग से कुचला गया, हज़ारों बेगुनाहों को पेड़ों पर फाँसी दी गई। इसकी प्रतिक्रिया ब्रिटिश संसद और दुनिया के अख़बारों में ही नहीं, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के मन पर भी हुई। 1857 के ब्रिटिश अन्यायों और अत्याचारों को देखकर शिक्षित-संपन्न मध्यवर्ग का भी नज़रिया बदलने लगा। स्वाधीनता चाहिए या आधुनिकता? अब इस प्रश्न के सामने खड़ा होकर साफ़-साफ़ कहने लगे—हमें दोनों चाहिए। अंग्रेज़ों के 'सभ्यता के मिशन' की पोल अंततः खुल गई।

कहना न होगा कि इसी प्रकार विकास की नई वर्तमान पद्धतियों और नई टेक्नोलॉजी से भी मुक्ति की नई परिभाषाएँ निकलेंगी। आज बहुत कुछ जो अंधाधुंध, अनियंत्रित और एक धुव्रीय है, वह संदेह से देखा जाएगा। बौद्धिक क़िलेबंदी टूटेगी, सामुदायिक इंटरैक्शन बढ़ेगा और बड़े देशों के डिक्टेट से बाहर आकर एक नया संसार बनेगा, जिसमें विकास और यथार्थ परस्पर शत्रु नहीं होंगे।

इस बिन्दु पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए कि क्या 1857 के विद्रोह में सिर्फ़ सामंतवाद भरा हुआ था और यह महज़ एक धार्मिक विद्रोह था। 1857 के विद्रोहियों के पास क्या नए विचार नहीं थे, वे प्रतिगामी थे? मुझे लगता है कि औपनिवेशिक संसाधनों द्वारा बने दस्तावेज़ और लोकगीतों-लोककथाओं के साक्ष्य—दोनों में 1857 के समान चित्र नहीं हैं। 1857 को केन्द्र में रखकर किम्वदंतियाँ, लोकगीत और लोक साहित्य ज़्यादा रचे गए, भद्रवर्गीय साहित्य कम रचा गया। हिन्दी में 1889 में रचा गया बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' के नाटक *भारत सौभाग्य* में 1857 के विद्रोह को साम्राज्यवाद से प्रभावित नज़रिये से ही देखा गया है। प्रेमघन ने अपने इस नाटक में ब्रिटिश राज्य को देश में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने वाले पात्र के रूप में दिखाया है। इसमें यह कहा गया है कि सैकड़ों वर्षों के दमन के बाद देश ने अब कैसी राहत की साँस ली है। इस नाटक में बहादुरशाह ज़फ़र और नाना साहेब को आर्य जाति का कलंक कहा गया है।

स्मरणीय है कि यह नाटक राष्ट्रीय कांग्रेस की इलाहाबाद में आयोजित चौथी महासभा (1889) में प्रतिनिधियों के सामने मंचित करने के उद्देश्य से लिखा गया था और महासभा के अध्यक्ष को समर्पित था।

निस्संदेह *भारत सौभाग्य* से पहले भारतेन्दु का प्रहसन *अँधेर नगरी* (1884) आया था और उसमें अंग्रेज़ी राज के प्रति एक भिन्न नज़रिया था— "चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हज़म कर जाता।" यह उपनिवेशवाद की एक तीखी बौद्धिक पहचान है। भारतेन्दु यह भी कहते हैं, "चूरन हाकिम साब जो खाते। सब पर दूना टिक्स लगाते।" भारतेन्दु ब्रिटिश राजभक्ति प्रदर्शित करते हुए भी भारत में अंग्रेज़ी राज को कभी 'सुशासन' नहीं कहते हैं। उपनिवेशवाद और पश्चिम एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। उपनिवेशवाद वस्तुतः पश्चिम का एक वीभत्स चेहरा है और भारतेन्दु इसकी भरपूर पहचान करके अंग्रेज़ी राज को देखने के मध्यवर्गीय परिप्रेक्ष्य में काफ़ी परिवर्तन लाते हैं। वे निस्संदेह दुविधा से मुक्त नहीं थे, पर उनके मिज़ाज में एक संक्रमण घटित हो रहा था। वे 1857 के असर में ही बलिया वाले भाषण में हिन्दू-मुसलमान 'सब एक का हाथ एक पकड़ो' का संदेश देते हैं। वे अन्यत्र यह सवाल पूछते हैं, "कब लौ दुख सहिहौ सबै रहिहो बने ग़ुलाम?" इन्होंने 1857 पर सिर्फ़ दो पंक्तियाँ लिखीं, जो काफ़ी यथार्थपरक हैं। वे लिखते हैं, "कठिन सिपाही द्रोह अनल जो जन बल नासी। जिन अब सिर न उठाय सकत कहुँ भारतवासी।" सिपाहियों के भयंकर विद्रोह की आग बुझाने के लिए अंग्रेज़ों ने इतना भयंकर दमन किया कि उनके भय से भारतवासी फिर विद्रोह करने का साहस नहीं कर पा रहे थे। इस तरह उन्नीसवीं सदी में 1857 के संदर्भ में भारतेन्दु और प्रेमघन ये दो अलग-अलग व्याख्याएँ देते हैं और अलग-अलग आकांक्षाएँ व्यक्त करते हैं। एक पर स्पष्ट रूप से राष्ट्रवाद का असर है, दूसरे पर उपनिवेशवाद का। लेकिन लोक साहित्य के संसार में ऐसी एक भी रचना नहीं है, जिसमें कुछ इस तरह की बात हो कि यदि 1857 के विद्रोह में सफलता मिल जाती तो भारत पिछड़ जाता। फिर भी इससे सिर्फ़ इतना ही निष्कर्ष निकालना चाहिए कि 1857 में भारत के लोक समाज और पढ़े-लिखे शिष्ट समाज के बीच एक अल्पकालिक दीवार खड़ी हुई थी, जो विद्रोह के असर से टूट गई। यह अलग बात है कि आज पुनः यह दीवार खड़ी हो रही है और दीवार खड़ा करनेवाले वैश्वीकरण के संदर्भ में अंग्रेज़ी राज के सुशासन के गीत गाने लगे हैं। इसमें संदेह नहीं कि जो विचारक 1857 के संग्राम के विरोध में आज भी बौद्धिक क़िले बनाने में लगे हैं, वे एकध्रुवीय वैश्वीकरण के जयजयकार में लगे हुए लोग हैं।

1857 का विद्रोह : प्रभावी या अप्रभावी

वर्षा दास

1857 के विद्रोह को परंपरागत भारतीय समाज और आधुनिक ब्रिटिश पूँजीपतियों के बीच संघर्ष के रूप में देखा गया है, परंतु 1818 में गुजरात में सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के बाद अंग्रेज़ों ने जब पेशवा बाजीराव द्वितीय को हटाया था, तो परिवर्तन का ज़ोरदार स्वागत हुआ था। मराठों के कुशासन के चलते हर ओर हिंसा और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। गुजरात के लोगों को भारी मुसीबतों और तिरस्कारों को झेलना पड़ता था, उनके लिए अंग्रेज़ों ने मुक्तिदाता की भूमिका अदा की थी। गुजरात में एक बार फिर शांति आ गई और इसने उसके सांस्कृतिक विकास में भारी भूमिका निभाई। ठीक इसी कारण से 1857 में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह के दौरान गुजरात तटस्थ रहा था। बहुत से लोग अंग्रेज़ी सीखना चाहते थे। बंबई में एलफ़िस्टन इंस्टिट्यूट की स्थापना 1835 में हुई और 1842 में सूरत में, तथा 1844 में अहमदाबाद में अंग्रेज़ी स्कूल खोले गए। बंबई यूनिवर्सिटी की स्थापना 1857 में हुई, जिसने भारतीयों को उच्च शिक्षा की ओर आकर्षित करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। पश्चिमी भारत के लिए यह सुधारों का युग था। लेकिन कुछ गुजराती साहित्यकारों के सुधारवादी योगदान की विस्तार से चर्चा करने से पहले आइए हम उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में लिखी गई अंग्रेज़ी की उन कुछ पुस्तकों पर नज़र डालें, जिनमें उस काल का इतिहास, साहित्य और संस्कृति एक-दूसरे में मिल जाते हैं।

1857 की घटनाओं पर सबसे पुराने प्रकाशनों में एक है, काये और मालेसन की बहुखंडीय कृति *हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन म्यूटिनी ऑफ़ 1857-58*, जिसका संपादन कर्नल मालेसन द्वारा किया गया था, और इसके पहले खंड को 1888 में डब्लू. एच. एलेन एंड कंपनी, 13, वाटरलू प्लेस, लंदन ने प्रकाशित किया था। इसके पहले अध्याय में कहा गया है :

---

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

‘‘भारतीय सूर्य के नीचे आठ वर्ष तक चिन्ता से भरे घोर परिश्रम के कारण बिगड़े हुए स्वास्थ्य, लेकिन उत्साह के साथ, जो दुर्बल नहीं हुआ था, लॉर्ड डलहौज़ी ने सरकार की बागडोर सौंप दी और मरने के लिए स्वदेश लौट गए। लॉर्ड वेलेज़ली के शासन काल के बाद, जो लिखित इतिहास में इतना महान और व्यावहारिक परिणामों के मामले में इतना महत्त्वपूर्ण था, कोई प्रशासन लॉर्ड डलहौज़ी जैसा नहीं रहा; अंग्रेज़ी-भारतीय साम्राज्य के इतिहास का कोई भी काल इतनी बड़ी राजनीतिक घटनाओं से भरा नहीं रहा और इनमें से कोई भी घटना ऐसी नहीं थी, जो इसकी प्रशासनिक प्रगति के आसपास पहुँच पाई हो। शांति और युद्ध दोनों ने अपने-अपने नतीजे हाथ खोलकर दिए।

‘‘अपने पक्के भरोसे को एक दूसरे हाथों में छोड़ते हुए लॉर्ड डलहौज़ी ने अपनी सरकार के महत्त्वपूर्ण वर्षों का सिंहावलोकन करते हुए एक विस्तृत राजकीय आलेख तैयार किया था। वह सिंहावलोकन पर भरपूर ख़ुशी मना सकते थे : अपने सँजोए हुए सिद्धांतों को गंभीरतापूर्वक परखते हुए उन्होंने अपनी आंतरिक निष्ठा, ईमानदारी के साथ काम किया था; और सामने आए सभी परिणामों पर सफलता की दमक थी। साम्राज्य पर शांति और संपन्नता मुस्करा रही थी। जो साम्राज्य मिला था उसका भारी विस्तार हो गया था और इस विस्तार से उनका विश्वास था कि उन्होंने हमारे राज को मज़बूत कर लिया है और देश में कार्यकाल को सुरक्षा प्रदान कर दी है।

‘‘इन महान सफलताओं के वर्णन के प्रारंभ में कुछ इस प्रकार का वृत्तांत दिया जाना चाहिए : क्योंकि उनको समझकर और उनका मूल्यांकन करके ही हम तत्पश्चात के संकट का सही आकलन कर सकते हैं। उस संकट की कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ पंजाब और अवध में घटी थीं। लॉर्ड डलहौज़ी को विदेशी राज्य मिला था, जिसे उन्होंने ब्रिटिश प्रांत बना दिया।’’

ये तीन पैराग्राफ़ उपनिवेशवाद के प्रारंभ और उस घटना के ब्रिटिश प्रलेखक के दर्प को दर्शाते हैं। भारत में पहला विश्वविद्यालय चूँकि 1857 में बंबई में अंग्रेज़ों ने खोला था, अत: यह देखना प्रासंगिक होगा कि काये और मालेसन शिक्षा के बारे में क्या कहते हैं। निम्नलिखित उद्धरण उसी पुस्तक (पृ. 135) से लिया गया है :

‘‘सरकारी शिक्षा देश की संपूर्ण पुरुष आबादी पर अपने तंत्र को तेज़ी से फैलाते हुए पहले से न केवल अधिक व्यवस्थित और विलक्षण रूप में थी, बल्कि पश्चिम की नई शिक्षा और इसके दर्शन की घुसपैठ से स्त्रियों की कोठरियों के बंधन भी बचे नहीं रह पाए। इंग्लैण्ड ने अपनी कमियों का लेखा-जोखा लेना शुरू कर दिया था, और कंपनी पर लादी गई तमाम निन्दाओं में कोई भी इतनी तेज़ और आम

नहीं रही, जितनी यह कि जहाँ लड़ाइयों पर उन्होंने दसियों लाख ख़र्च कर दिए, वहाँ वे शिक्षा के लिए सैकड़ों ख़र्च करने में आनाकानी करते रहे। इसलिए इस आवाज़ का ध्यान रखते हुए, लोगों की शिक्षा के लिए ज़्यादा बड़े, अधिक व्यापक, अधिक व्यवस्थित उपाय करने के निर्देश और ख़र्चे बढ़ाने के अधिकार देते हुए भारत को आदेश भेज दिए गए हैं। जहाँ बड़े-बड़े विश्वविद्यालय सरकार के सीधे नियंत्रण में स्थापित किए जाने हैं, अधिक साधारण मिशनरी स्कूलों को सरकारी धन से अनुदान दिया जाएगा और कोई भी वह प्रयास छोड़ा नहीं जाएगा, जिससे यूरोपीय ज्ञान के प्रसार में मदद मिल सकती हो। पूर्वी ज्ञान के संरक्षकों को यह स्पष्ट कर दिया गया था कि पश्चिम के दरवाज़ों को खोलने के लिए जो कुछ भी किया गया है, वह शीघ्र ही उस महान यूरोपीयन प्रवाह की तुलना में नहीं के बराबर लगने लगेगा, जो उनके ऊपर उड़ेला जाने वाला है।

''लॉर्ड डलहौज़ी प्रशासन ने जो प्रयास किए थे, उनमें सबसे ख़तरनाक वह था; जिसका उद्देश्य हमारी नई शिक्षा और हमारे रीति-रिवाजों को महिलाओं में पैठाना था। प्रेसीडेंसी के बड़े नगरों में अंग्रेज़ी ने महिलाओं के मस्तिष्कों को घोर अज्ञान के उनके जन्मसिद्ध अधिकार से मुक्ति दिलाने के अपने प्रयासों को व्यवस्थित करना प्रारंभ कर दिया है और गोरे लोगों की पत्नियों और पुत्रियों के काम में मदद करना शुरू कर दिया है, जो घर में अपनी बहनों की सहानुभूतियों से प्रसन्न एवं उत्साहित होती रहती थीं। हिन्दू और मुस्लिम औरतों की शिक्षा ने काफ़ी कुछ स्पष्ट रूप, पहली बार, लॉर्ड डलहौज़ी के प्रशासन के दौरान ग्रहण किया। इससे पहले यह शिक्षा कुछ अनाथों और बहिष्कृतों के धर्मान्तरण के मिशनरी जोश के नाम पर ही थी।''

1889 में प्रकाशित खंड 4 में उल्लिखित स्थानों की एक सूची और संक्षिप्त वर्णन दिया है, जो पहले के खंडों में नहीं है। यहाँ उस काल की भाषायी तथा स्थानीय सांस्कृतिक गंध के दृष्टिकोण के कुछ ठेठ उदाहरण दिए जा रहे हैं, जैसे कि लेखकों ने देखे थे। सारी वर्तनियाँ वे ही रखी गई हैं, जैसी कि पुस्तक में हैं :

''अजीब बात है कि पहले-पहल बसने वालों द्वारा धाकाह को, इस तथ्य के बावजूद ढाका कहा था कि देश, जो एक नगर है, की भाषा में 'सी' अक्षर नहीं है, सिवा 'ह' की संधि के साथ के। और नगर का नाम *ढाक, ब्यूटिया फ्रोंडोसा* से निकला है जो वूरी गंगा नदी के किनारे स्थित है और यह इसी नाम के ज़िले तथा प्रखंड का प्रमुख नगर है। प्रखंड के उत्तर में गारो पहाड़ियाँ हैं, पूर्व में सिलहट ज़िला और तिपराह पहाड़ी, दक्षिण में नोआखली ज़िला और बंगाल की खाड़ी, एवं पश्चिम में जासर, पटना, बोगोरा और रंगपुर ज़िले हैं।

''गोरखपुर। इस नाम का प्रखंड उत्तर में निपाल, पूर्व में गंडक, दक्षिण में घाघरा और पश्चिम में अवध से घिरा है। राजधानी का नाम भी गोरखपुर है जो राप्ती के बाएँ किनारे पर है। इसमें अवध के शासकों द्वारा बनवाया हुआ एक इमामबाराह (एक तरह की मस्जिद) भी है, और इसके पास में गोरखनाथ का मंदिर है, जिसकी पूजा जैनियों द्वारा की जाती है। इस ज़िले में संचार के साधन अब भी वांछित से कम हैं।

''लखनाओ का इमामबाराह, बड़ा, एक तरह की मस्जिद है, जिसे अवध के एक राजा ने बनवाया था; पहले मच्क्षी भवन के नज़दीक (स्थित) इसको अब इसी में मिला लिया गया है। 163 फ़ीट लंबा और 53 फ़ीट चौड़ा और साढ़े 49 फ़ीट ऊँचा मुख्य मेहराबी हाल खंबों के बिना है। प्रत्येक मेहराब 68 फ़ीट की है और दीवार 16 फ़ीट मोटी है। पूरब से पश्चिम में इमामबाराह 303 फ़ीट लंबा, 160 फ़ीट चौड़ा और साढ़े 62 फ़ीट ऊँचा है। पाठकों को इस, और उत्तर भारत के बड़े नगरों की अन्य इमारतों का प्रशंसनीय वर्णन, मुरे की पुस्तिका *बंगाल प्रेसीडेंसी* में मिलेगा, जिसका संकलन कैप्टन एडवर्ड ईस्टविक ने वहीं किया था।

''कैसरबाग़, लखनाओ के इस महल का निर्माण अवध के एक अंतिम राजा, वाज़िद अली शाह ने कराया था। इसका निर्माण कार्य 1848 में शुरू होकर, 800,000 पौंड स्टर्लिंग की लागत के साथ 1850 में पूरा हुआ। इसमें सादत अली द्वितीय द्वारा बनवाई गई बादशाह मंज़िल शामिल है जो पहले राजा का व्यक्तिगत निवास था। लखी दरवाज़े के पार एक शानदार चौक के चारों ओर महिलाओं के कमरे थे। दरवाज़े को लखी कहा जाता था, क्योंकि इसको बनाने में एक लाख लगे थे।

''सिलहट, जिसे कभी-कभी अशुद्ध रूप से 'सायलहेट' लिखा जाता है, धाकाह क्षेत्र का एक ज़िला है, जिसका क्षेत्रफल 5440 वर्ग किलोमीटर, और आबादी 1,700,000 से अधिक है। ज़िले के उत्तरी, पूर्वी और दक्षिणी हिस्से पहाड़ी हैं। ज़िले का मुख्यालय, जिसे सिलहट ही कहा जाता है, की प्रमुख नदी सुरमा है, जो कछार से निकलकर ब्रह्मपुत्र में गिरती है। इसके मुख्य उत्पाद चूना, इमारती लकड़ी, संतरे, अदरख और चाय हैं।''

अंतिम, चौथा खंड 1889 में प्रकाशित हुआ था (भूमिका : पृ. 8) :

''उपसंहार में, आधुनिक काल की सबसे शानदार घटना का, ईमानदारी से और बिना किसी पूर्वाग्रह के, वर्णन करने के प्रयास के तौर पर मैं इस कृति के अंतिम खंड को बड़े सम्मान के साथ जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए अंतिम शब्द कहना चाहूँगा। अभी तक के विश्व इतिहास में ऐसा कुछ नहीं हुआ है, जिसकी इससे

बराबरी की जा सके। जो मैंने पिछले खंड में कहा है, मैं उसे दोहराना चाहूँगा कि किसी राष्ट्र पर इससे अधिक मुश्किल काम अचानक कभी नहीं आ पड़ा था, जितना कि 1857 में ब्रिटिशों पर। इसको पूरा करने में उन्होंने सच में ही 'नामुमकिन को जीता था' अर्थात् वह काम किया था, जिसे, मैं मानता हूँ, दुनिया में कोई दूसरे लोग नहीं कर सकते थे। वे विजयी रहे, क्योंकि सबसे निराशापूर्ण घड़ी में भी वे कभी हताश नहीं हुए; क्योंकि, अपनी शक्तियों में विश्वास रखते हुए उन्होंने विशाल बनने की हिम्मत की।

जी. बी. मालेसन

27, वेस्ट क्रॉमवेल रोड
1, अक्टूबर, 1889''

जिस दूसरी पुस्तक को प्रस्तुत करना चाहूँगी, वह है क्रिस्टोफ़र हिबर्ट की *दि ग्रेट म्यूटिनी इंडिया।* इसको पेंगुइन बुक्स ने 1957 में प्रकाशित किया था। लेखक 1857 के दो व्यक्तित्वों का सजीव चित्रण करता है। ''दिल्ली के बहादुरशाह, द्वितीय उस समय 82 साल के थे। युवावस्था में वह अपने खेलकूद, तीरंदाज़ी में महारत थे और घुड़सवारी, और हाथी की पीठ से उड़ती चिड़िया पर निशाना लगाने के लिए मशहूर थे।

''लेकिन बाद के सालों में वह अधिकतर साहित्य रचने, पांडुलिपि चित्रण और लघु चित्र बनाने में समय बिताते थे। हालाँकि मुर्गों की लड़ाइयों और तीतरबाज़ी में मज़ा आता था, पर वह पशुओं से प्यार करते थे, अपने प्रिय बूढ़े हाथी पर जान देते थे, अपने पालतू परिन्दों—फ़ाख़्ताओं और बुलबुलों—से उन्हें अपार आनंद मिलता था। उनकी कूक और चहचहाहट को वे अपने बग़ीचे में बड़े ख़ुश होकर सुनते थे, जिनको जमुना किनारे के महल की दीवार के नीचे उन्होंने ख़ुद लगाया था। उनको स्थापत्य और संगीत में दिलचस्पी थी और वह पाक-कला में रुचि लेते थे। उन्होंने एक तरह की मिठाई ईजाद की थी, जिसमें तेज़ काली मिर्च और करेला डाला जाता था। उन्होंने कभी शराब नहीं पी और वे हर क़िस्म की नशीली दवाओं, अफ़ीम तक, से परहेज़ करते थे, पर उन्हें हुक़्क़ा पीने और पान खाने में आनंद आता था और आम के तो वह बेहद शौक़ीन थे। अफ़वाह के अनुसार, उनको एक सनक थी, एक पक्का यक़ीन, कि 'अपने-आपको वह एक मक्खी या मच्छर में बदल सकते हैं, और कि इस रूप में वह दूसरे मुल्कों में जा सकते हैं और वहाँ के हाल-चाल जान सकते हैं'।''

इस बहुप्रातिभ शहंशाह के बाद मैं नाना साहेब के वर्णन के बारे में चर्चा करना चाहूँगी। लेखक का कथन है : ''एक अच्छे मेज़बान होने के बावजूद नाना साहिब उल्लेखनीय रूप से सतर्क व्यक्ति नहीं थे। 'अपने मेहमानों के साथ, वह दूसरे देसी मेज़बानों की तरह, अर्ध-असभ्य व्यवहार नहीं करते थे, जो सारी शाम दरबारियों के बीच बैठकर दूरबीन से नाचने वालियों को घूरते और ज़ाहिर तौर पर पूरी कार्यवाही को एक नृत्य नाटक मानते हुए बिताते हैं, जो उनके व्यक्तिगत मनोरंजन के लिए आयोजित किया गया हो। कभी-कभी वह किसी मेहमान को खेलने के लिए आमंत्रित करते और अपने विरोधी को ख़ुशी-ख़ुशी खेल जीतने देते, जिसको वह ख़ुद बहुत अच्छी तरह खेल सकते थे। परंतु बहुत बार वह मनोरंजन से अलग रहते जिसका प्रबंध स्वयं उन्होंने ही किया होता और अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए अपने किसी एक दत्तक भाई को भेज देते। बहरहाल वह अंग्रेज़ी बहुत अच्छी तरह नहीं बोल पाते थे : *दिल्ली गज़ट* और *इंग्लिशमैन* सहित अंग्रेज़ी के अख़बार उनके महल भेजे जाते थे, लेकिन उनमें क्या लिखा है, इसे बताने के लिए उनको एक यूरोपीयन रखना पड़ा था। वास्तव में, उनके यूरोपीयन मिलने आने वालों की राय में वे कोई ख़ास बुद्धिमान, और उनके अंग्रेज़ डॉक्टर के अनुसार वे बिलकुल दिलचस्प व्यक्ति नहीं थे। माना जाता था कि वह खाने के, और आँखों के इर्द-गिर्द काजल लगाए तथा पान के रस से रंगे गुलाबी कामुक ओठों वाली नर्तकियों के बेहद शौक़ीन थे। उनकी इन अभिरुचियों को उनका मज़बूत, चिकना, कोमल, परिष्कृत और मूँछों वाला रूप पुष्ट करता प्रतीत होता था। पर वे आत्मसंतुष्ट व्यक्ति नहीं थे। वे अपने पिता की पेन्शन बंद किए जाने से लगातार चिढ़े रहते, और इसके अलावा इस बात से भी खिन्न रहा करते थे कि कानपुर के अंग्रेज़ शिष्टतावश उनको बिठूर के महाराज कहकर संबोधित तो करते थे, पर उनकी उपाधि को कलकत्ता से आधिकारिक मान्यता प्राप्त नहीं थी, जहाँ पेशवा के वारिस के तौर पर उनको सलामी लेने का अधिकार नहीं दिया गया था।''

क्रिस्टोफ़र हिबर्ट ने इन चरित्रों का जिस तरह से निर्माण किया है, वे इतिहास के पृष्ठों से सजीव उतरते लगते हैं।

इंडियाज़ स्ट्रगल फ़ॉर इंडिपेंडेंस * में प्रोफ़ेसर विपिन चंद्रा और सह-लेखकों ने पहले अध्याय के तीन पैराग्राफ़ 1857 के विद्रोह को समर्पित किए हैं। पहले

---

* विपिन चंद्रा और मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के. एन. पणिक्कर एवं सुचेता महाजन का ग्रंथ *इंडियाज़ स्ट्रगल फ़ॉर इंडिपेंडेंस,* सर्वप्रथम 1988 में वाइकिंग ने प्रकाशित किया था, और बाद में 1988 में पेंगुइन बुक ने। इसका 23वाँ संस्करण 1999 में प्रकाशित हुआ।

अध्याय का प्रथम पैराग्राफ़ 'दि फ़र्स्ट मेजर चैलेंज : दि रिवोल्ट ऑफ़ 1857' एक महान कथावाचक की शैली में सजीव चित्र प्रस्तुत करता है :

"11 मई, 1857 की सुबह। शहर अभी जग नहीं पाया था कि मेरठ से सिपाहियों के एक दस्ते ने जमुना पार किया और चुंगी में आग लगा दी और लाल क़िले की ओर कूच कर गए। एक दिन पहले इन्होंने हुक्म-उदूली की और यूरोपीयन अफ़सरों को मार दिया था। लाल क़िले में ये राजघाट की ओर से घुसे थे, जिनके पीछे-पीछे उत्तेजित लोगों की भीड़ थी। ये सब मुग़ल शहंशाह, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के पेन्शनयाफ़्ता बहादुरशाह द्वितीय, से उनका नेता बनने की अपील करने आए थे, जिनके पास महान मुग़लों के नाम के अलावा और कुछ नहीं था। इस तरह वे अपने उद्देश्य को वैधानिकता देना चाहते थे। बहादुरशाह तय नहीं कर पा रहे थे, क्योंकि न तो उन्हें सिपाहियों के इरादों की जानकारी थी, न ही कारगर भूमिका अदा करने के मामले में अपनी क्षमता की। परंतु, यदि दबाव नहीं, तो समझा-बुझाकर उन्हें राज़ी कर लिया और *शहंशाह-ए-हिन्दुस्तान* घोषित कर दिया गया। इसके बाद सिपाही दिल्ली के शाही शहर पर क़ब्ज़ा करने के लिए बढ़े, राजनीतिक प्रतिनिधि साइमन फ़ेजर और बहुत से अन्य अंग्रेज़ों को मार डाला गया; सार्वजनिक कार्यालयों पर या तो क़ब्ज़ा कर लिया गया अथवा उनको तबाह कर दिया गया। 1857 का विद्रोह विदेशी राज को उखाड़ फेंकने का एक विफल, लेकिन वीरतापूर्ण प्रयास था। दिल्ली पर क़ब्ज़े और बहादुरशाह को हिन्दुस्तान का शहंशाह घोषित करने से विद्रोह को एक वास्तविक राजनीतिक अर्थ मिल गया और शाही शहर की पुरानी शान को याद कर विद्रोहियों को एकजुट होने का बिन्दु प्रदान कर दिया था।"

जिस घटना को अंग्रेज़ी विद्वानों ने 'सैन्यद्रोह' (म्यूटिनी) का नाम दिया था वह भारतीय इतिहासकारों और विद्वानों के हाथों 'विद्रोह' बन गया।

एक अन्य पुस्तक पर नज़र डालना दिलचस्प होगा : यह है हेनरी मेड की *दि सिपाही रिवोल्ट।* इसको ज्ञान पब्लिशिंग हाउस ने 1986 में प्रकाशित किया था। लेखक 1857 से पहले एक स्वतंत्र ब्रिटिश पत्रकार था और उसका दावा है कि (पुस्तक में) उसने भारतीय पत्रकारिता में अपनी दस साल की मेहनत के परिणामों को संक्षेप में पेश किया है। प्रस्तावना में लेखक कहता है कि अगर यह पुस्तक उसे दोबारा लिखनी हो, वह "उन रंगों को गहरा करना चाहेगा, जिनमें भारतीय जीवन के चित्रों को प्रस्तुत किया गया है; लेकिन जो अनुभव किसी इंसान को पूर्वी सरकार के विषय पर लिखने की सामर्थ्य देता है, वह उसकी सहानुभूतियों को भोथरा करने की प्रवृत्ति रखता है और कुछ हद तक उसके नैतिक विवेक को चोट पहुँचाता है।

यंत्रणा और अराजकता, और दसियों लाख के चिरस्थायी कष्टों से मैं इतना परिचित हूँ कि मुझे पता है कि मैं वैसे महसूस नहीं करता, जैसा मुझे तब करना चाहिए; जब किन्हीं लोगों या राष्ट्रों के साथ ग़लत किया जाता है। जो इंसान चिता फूँकने वाले और भट्ठी बनाने वाले के इलाक़े में रहता है, उससे बाजों और सड़क की चीख़-चिल्लाहटों के ख़िलाफ़ मुहिम में शामिल होने की उम्मीद नहीं की जा सकती है।

''दुनिया के कुछ हिस्सों में असभ्यों के लिए एक इलाज आम है, जिसे 'धरती की भूख' का नाम दिया गया है। यह भोजन की एक प्रजाति, मिट्टी के लिए निरंतर लालायित रहती है, जो भूख को संतुष्ट नहीं कर पाती और जो पाचन क्षमता को हानि पहुँचाती है।''

इस पुस्तक में लेखक ने अपने निजी अनुभवों का वर्णन किया है अथवा वे प्रत्यक्षदर्शियों के बयानों और समकालीन प्रामाणिक अभिलेखों पर आधारित हैं। लेखक ने विभिन्न क्षेत्रों के उन अंग्रेज़ अफ़सरों के सरकारी पत्रों के भी उद्धरण दिए हैं, जो सिपाहियों के हमलों से जीवित बच गए थे।

लेखक ने सिपाहियों की क्रूरताओं की रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानियों को दुहराया है। हालाँकि लेखक को भारतीयों से कोई सहानुभूति अथवा भारतीय संस्कृति एवं धर्म के प्रति कोई सम्मान की भावना नहीं, वह उन अन्यायों और अत्याचारों को सामने लाता है, जो अंग्रेज़ अफ़सरों और उनके भारतीय दलालों ने भारतीयों पर ढाए थे। लेखक कुछ सनातन सत्य जैसी टिप्पणियाँ करता है, उदाहरण के लिए पृ. 242 देखिए, ''बुआई करना वहाँ जहाँ कटाई नहीं हुई है, हर युग में विजेता का विशेषाधिकार रहा है।'' और उसी पृष्ठ पर—''परंतु ऐसा अक्सर होता है कि पूरी की पूरी नस्लें या व्यक्ति अपने सच्चे हितों के प्रति लापरवाह रहते हैं, और ऐसी स्थिति में शेष दुनिया के लिए उनकी परवाह करना और भी ज़रूरी हो जाता है···मानव इतिहास में इससे पहले किसी भी राष्ट्र ने अपने ही आधिपत्य को उलटने के लिए इतनी मेहनत नहीं की है, जितनी कि हिन्दुस्तान के क्षेत्रों पर से अपने साम्राज्य को समाप्त करने के लिए अंग्रेज़ों ने।''

अंग्रेज़ शासकों की महानता की चर्चा करते हुए पृष्ठ 241 पर लेखक कहता है : ''ब्रिटिश स्वतंत्रता की आधारशिला क़ानून के आगे सभी लोगों की समानता है, जबकि हिन्दूवाद का मूल सिद्धांत वर्गों (या वर्णों) की अपरिवर्तनीय अधीनता है। अंग्रेज़ अतीत और वर्तमान जनता को संप्रभुता का महान पाठ पढ़ाता है, जबकि ब्राह्मण के लिए देव वाणी सदा ही एक ओर तो निरंकुशता के अधिकार को और दूसरी ओर आज्ञाकारिता के कर्तव्य भाव को मन में जमाती है। इससे पहले कि भारत

में सच्चे प्रतिनिधित्व का एक अंश भी मिल पाता है, जातियों के अस्तित्व को पूरी तरह से मिटा दिया जाना चाहिए।''

इस पुस्तक के पृ. 244 पर दर्ज है, ''नियमावली की घोषणा के बाद से अंग्रेज़ों द्वारा एक भी मंदिर गिराया नहीं गया है, एक भी मूर्ति हटाई नहीं गई है। वे उस किसी भी कला की साधना करने को स्वतंत्र हैं, जिसके लिए यूरोपीयन विख्यात हैं। साहित्य में उन्होंने मनु को खोया नहीं है, पर मिल्टन पा लिया है। वे हमारे विज्ञानों के साथ अपने शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं, और वेदों एवं पुराणों के साथ शेक्सपीयर पढ़ सकते हैं।''

हेनरी मेड के कथन की पुष्टि गुजरात के दलपत राम (1820-1898)से होती है। उनकी मुलाक़ात एक अलेक्ज़ेंडर किनलोच फ़ोर्बेस से हुई, और उनकी दोस्ती गुजराती तथा अंग्रेज़ी संस्कृति को निकट लाने में एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में विकसित हो गई थी। 1848 में फ़ोर्बेस ने 'गुजरात वर्नाकुलर सोसाइटी' की स्थापना की थी, जिसे आज 'गुजरात विद्या सभा' के नाम से जाना जाता है। दलपत राम और फ़ोर्बेस ने प्राचीन गुजराती पांडुलिपियों और अन्य साहित्य को एकत्र करना प्रारंभ किया था, और उनके आधार पर उन्होंने गुजराती संस्कृति के इतिहास की रचना की। छंदों पर 1855 में लिखी गई उनकी पुस्तक *दलपत पिंगल* गुजराती में अपनी तरह की प्रथम रचना थी।

नर्मद (1833-1886) एक स्वाभिमानी एवं सिद्धांतों के पक्के व्यक्ति थे। 1856 तक वह एक साहित्यिक पत्रिका *बुद्धिवर्धक ग्रंथ* (जिसका शाब्दिक अर्थ है बुद्धि बढ़ाने वाली पुस्तक) के संपादक थे। 1858 में उन्होंने स्कूल अध्यापक की अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और सारा जीवन लेखन को समर्पित कर दिया था। आठ साल बाद उन्होंने अपनी पत्रिका *डांडियो* (अर्थात् डंडी) शुरू की, जिसमें विभिन्न विषयों पर लेख होते थे। जीवनी साहित्य की शुरुआत उन्होंने अपनी आत्मकथा *मारी हक़ीक़त* के साथ की थी। वह इसे प्रारूप कहते हैं, न कि अपना अंतिम वृत्तांत। अपने सच्चे चित्रण के लिए कसौटी तय करते हुए उन्होंने कहा था कि इसकी उपयुक्तता वह स्वयं तय करेंगे कि क्या शामिल करना है और क्या छोड़ना है। अच्छा या बुरा, उन्होंने जो भी शामिल किया—चाहे वह दूसरों को पसंद आए अथवा नहीं—उन्होंने पूरी ईमानदारी और सच्चाई के साथ किया।

नंदकिशोर (1835-1905) किसी अंग्रेज़ी स्कूल के पहले भारतीय हेडमास्टर थे। एक निर्धन परिवार के छात्र के रूप में वह इसी स्कूल में भर्ती हुए थे। वह पश्चिम की पुस्तकें पढ़ते और उनको अपने छात्रों को भी पढ़ने को देते। वह मैकाले के लेख पढ़ते और उनको अपनी बाइबिल मानते थे। जब वह 30 वर्ष के थे, उन्होंने

एक उपन्यास *कारांघेलो* लिखा, जिस पर मैकाले की लेखन-शैली का प्रभाव था। उन्होंने शेक्सपीयर, मिल्टन, बाइरन, शेली, गोल्डस्मिथ, डिकेंस और अनेक अन्य लेखकों को पढ़ा था।

नवलराम (1836–1876) ने भी सहायक अध्यापक के तौर पर एक अंग्रेज़ी हाई स्कूल में नौकरी की थी। उन्होंने 1876 में लिखित *बालालग्नबत्रीसी* जैसी सुधारवादी रचनाओं का योगदान किया था, जिसमें बाल-विवाह जैसे विषय पर चर्चा की गई थी। इसमें हास्य और दुःख दोनों का मेल था।

दुर्गादास दवे (1809–1876) भी स्कूल अध्यापक थे। 1843 से वह एक डायरी लिखने लगे थे, जिसमें उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपना सुधारवादी रुझान प्रदर्शित किया था। जादू-टोनों और अंधविश्वासों के विरुद्ध वह जम कर लड़े थे।

वर्ष 1857 में महीपात्रम नीलकंठ (1829–1891)शिक्षा विभाग में विभिन्न पदों पर काम कर रहे थे। 1860 में अतिरिक्त प्रशिक्षण के लिए उनको इंग्लैण्ड भेजा गया। लौटने पर उन्होंने एक यात्रा वृत्तांत और तीन उपन्यास लिखे थे।

करसनदास मुलजी (1832–1871) ने 1855 में *सत्यप्रकाश* नामक एक साप्ताहिक शुरू किया। इस सुधारवादी पत्र का वह 1860 तक संपादन करते रहे थे।

उन्नीसवीं सदी के मध्य की जिस एक महत्त्वपूर्ण घटना को नोट किया जाना चाहिए, वह है पारसी साहित्य का उदय। मनसुख के नाम से अधिक प्रसिद्ध मांचेरजी कावसजी शापुरजी (1827–1902) पारसी के पहले साहित्यकार थे, जिन्होंने छंद-संबंधी पारसी ग्रंथों पर शोध करने के बाद छंदों पर निबंध लिखे थे।

यह संक्षिप्त वर्णन उन्नीसवीं सदी के जागरूक गुजराती बुद्धिजीवियों के सरोकारों को सामने लाता है, जो सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध थे। अनेक कारणों से 1857 के सिपाही विद्रोह, आज़ादी की ओर कूच या धीरे-धीरे उपनिवेशवाद के विस्तार ने (जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जरिए ग़ुलामी का फंदा डालने जा रहा था) गुजरात पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाला था; परंतु शताब्दी के अंत की ओर उसी गुजरात ने मोहनदास करमचंद गाँधी को जन्म दिया, जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता का नेतृत्व किया था।

1857 का विद्रोह : कर्नाटक की स्थिति*

एस. चंद्रशेखर

आधुनिक भारत के इतिहास के एकमात्र सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय का निर्माण उपनिवेशवाद और भारत का प्रतिरोध करता है, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्त हुई। कर्नाटक की कहानी भी पूरी तरह अलग नहीं है। इस प्रस्तुतीकरण में, मुख्यतया साहित्य के माध्यम से, घटनाओं में कर्नाटक की भूमिका का पुनर्निर्माण करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुति के दो भाग हैं : पहले में 1857 की घटनाओं को लिया गया है और दूसरे में बाद वाली घटनाओं को सामने लाया गया है।

आधुनिक भारत के अनेक इतिहास अनेक विद्वानों ने लिखे हैं, परंतु उनमें आम तौर पर दक्षिण भारत और विशेष तौर पर कर्नाटक का कोई उल्लेख मुश्किल से ही मिलता है। स्वतंत्रता आंदोलन संबंधी लेखन के इस आम रुझान के चलते जब 1857 के विद्रोह, जिसे राष्ट्रवादी इतिहासकार 'भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम' कहते हैं, में दक्षिण भारत की भूमिका का सवाल आता है तो इसे पूरी तरह से अनदेखा कर दिया जाता है।

दक्षिण की इस स्पष्ट उपेक्षा ने दक्षिण भारत के कुछ इतिहासकारों को यह दावा करने के लिए उत्तेजित कर दिया कि भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम वास्तव में 1800-1801 के दक्षिण भारतीय विद्रोह से प्रारंभ हुआ था, जो बाद में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक चलता रहा था। दक्षिण भारत के श्रेय का दावा करने के लिए अनेक पुस्तकें और लेख भी लिखे गए हैं।[1]

जिन कन्नड भाषी क्षेत्रों का पुनर्गठन किया गया था और जिन्हें अब कर्नाटक कहा जाता है, 1956 तक स्वयं बीस से अधिक प्रशासनिक इकाइयों में बँटे थे। यह दक्कन के काफ़ी बड़े हिस्से से निर्मित था और सच तो यह है कि दकन स्वयं में

---

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

'दक्षिण' शब्द से निकला है। सोलहवीं शताब्दी से ही यह क्षेत्र, दक्षिण भारत में पुर्तगालियों के प्रवेश के बाद अपने ही अनेक अधिपतियों और ख़ासतौर पर विदेशी शक्तियों के विरुद्ध लगातार लड़ता रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी तक की कई ऐसी घटनाओं को एक तरफ़ करते हुए यहाँ ज़ोर उन प्रतिरोधों पर है, जो कर्नाटक में अंग्रेज़ों के हमलों के प्रति थे। औपनिवेशिकों के ख़िलाफ़ हैदर अली और टीपू सुल्तान के कृतसंकल्प युद्ध सर्वविदित हैं।

हालाँकि टीपू की हत्या के बाद औपनिवेशिक ख़ुशी से फूले नहीं समा रहे थे कि भारत में उनका साम्राज्य सुरक्षित हो गया है, पर प्रतिरोध चलता रहा था—1800-1801 का दक्षिण भारतीय विद्रोह, 1806-07 का वेल्लोर विद्रोह, त्रावणकोर का पषासिरागा, और अन्य ऐसे ही छुट-पुट विद्रोह, जिनका अंत उत्पीड़ित किसानों और विस्थापित स्थानीय सरदारों के 1830-31 के मैसूर, 1824-29 के किट्टूर, कुर्ग और कनारा के 1834 के साथ हुआ।[2] चेन्नम्मा और उसके सेनाध्यक्ष संगोली रायान्ना के विद्रोहों के बारे में लिखते हुए औपनिवेशिक इतिहासकार स्वयं भी मानते हैं कि वे महान देशभक्त थे। इन विद्रोहियों के वीरोचित कार्यों का वर्णन दक्षिण भारत के लोकगीतों में मिलता है। प्रारंभ में इन लोक गीतों का संग्रह और संपादन औपनिवेशिक राज के अधिकारियों द्वारा किया गया था। इस काम में पहल जॉन फ़ेथफ़ुल फ़्लीट और चार्ल्स ई. गावर ने की थी।[3] 1883 में गाथागीतों की भूमिका लिखते हुए जे. एफ. फ़्लीट ने कहा था, "वर्तमान शताब्दी के लोकप्रिय गाथागीत, जो हालिया तारीख़ की ऐसी ऐतिहासिक और राजनीतिक घटनाओं का कीर्तिगान करते हैं, निचले स्तर के लोगों के विशाल वर्गों के लिए व्यक्तिगत तौर पर पर्याप्त महत्त्व की वस्तु रहे हैं। 'अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ निरर्थक और दुःखदायी विद्रोहों पर आधारित···ये गाथागीत'···सारे देश में फैले पड़े हैं···और इसलिए हाल के समय में भी इनमें समाज के बड़े हिस्सों का ध्यान लगा हुआ है···ऐसे हैं डिसार्मिंग एक्ट, राजस्व सर्वेक्षण विभाग की स्थापना, आयकर की शुरुआत अथवा अजीबोगरीब कड़ाई का मामला, जिसमें गाँव के सूदख़ोर की बेईमानी और उसके अत्याचार से हताश होकर जोतदार ने आख़िरकार आदमी की हत्या कर दी होती है···गाथागीतों का भाषायी महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इनकी रचना करने वालों और गाने वालों की बोलचाल की देसी भाषा में, प्रांतीय और लिए हुए शब्दों की खिचड़ी के साथ, अनपढ़ गँवार लोगों द्वारा रचे जाने के कारण वे हमको वह देते हैं, जो जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी भी लिखित स्रोत से प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं··· । उनका ऐतिहासिक एवं राजनीतिक मूल्य इसमें है कि वे हमारे सामने वह वास्तविक देसी

सोच लाते हैं, जो किसी भी हाल में प्रशासन की हमारी प्रणाली और उन विभिन्न उपायों के बारे में, जो हमने शुरू और लागू किए हैं, उनकी सोच को लेकर यूरोपीयन कानों के लिए नहीं बनाई गई थी··· ।''

···इन गाथागीतों में जो भावनाएँ व्यक्त की गई हैं, उनकी सच्चाई की प्रामाणिकता के बारे में फ़्लीट यह कहते हैं, ''जहाँ तक इन गाथागीतों की लोकप्रियता का सवाल है, अपने ढेर सारे अनुभवों के आधार पर मैं इसकी गवाही दे सकता हूँ···इनको सभी ग्रामीण क्षेत्रों के लोग जानते और गाते हैं।''[4]

आइए, अब 1857 की बात करते हैं। इस दौर में तुंगभद्रा के उत्तर का कर्नाटक विशाल स्तर के विद्रोहों का मंच बना हुआ था। सुरापुर के वेंकटप्पा नायक, नारागुंडा के बाबासाहेब, मुंडारगी के भीम राव, मुधोल राज्य के स्वाभिमानी सूरमा आदिवासियों के वीरोचित परंतु त्रासद महाकार्यों, और बेलगाँव की छावनी में गड़गड़ाहटों जैसी कुछ घटनाओं को औपनिवेशिक सरकार और स्थानीय गाथागीतकारों दोनों ने लिपिबद्ध किया था।

विद्रोही नेताओं ने 1857 के विद्रोह के नायक नाना साहेब से संपर्क स्थापित किए थे।[5] स्थानीय सरदारों के अलावा संघर्ष में हज़ारों किसानों ने भाग लिया था। उथल-पुथल भरे वर्षों के दौरान दकन में काम कर रहे एक ब्रिटिश नागरिक ने लिखा था कि सुरापुर के विद्रोह में मैसूर के भी बहुत से लोगों ने भाग लिया था। दरअसल, ब्रिटिश सेना के कमांडर न्यू बेरी, जो विद्रोह को दबाने गया था, को मारने वाला लक्ष्मण नाम का व्यक्ति मैसूर का ही था।[6]

अब विद्रोह संबंधी साहित्य के बारे में। इस घटना से संबंधित सारा कन्नड साहित्य गाथाकाव्य और गीतों में है। आम लोगों के बीच उनकी इतनी लोकप्रियता को देखते हुए ही फ़्लीट ने लिखा था, ''हर जगह, उदाहरण के लिए बेलगाँव के दक्षिण या धारवाड़ के उत्तर को ही लें, किसी बहुत छोटे गाँव के अलावा, शायद ही ऐसा कोई गाँव हो, जिसमें कोई न कोई संगोली के रायान्ना के गाथागीत, या कित्तूर के इर्वावा के विलाप या नारागुंडा की व्याकुलता के गीत न गा पाता हो। जब सारे गाँववाले जमा होते हैं, तब लोगों को इससे ज़्यादा सुख और किसी में नहीं मिलता है···उनमें से एक से वह गीत ज़रूर ही गाने को कहा जाता है, जो सबसे प्रचलित होता है।''[7]

लोगों की उनके इर्दगिर्द घटी घटनाओं से जुड़ी साहित्यिक अभिव्यक्तियों में बदलाव उस सांस्कृतिक झटके के साथ आया, जो उनको स्थानीय धनवानों और सरहदों का संरक्षण बंद हो जाने के चलते मिला था। इसके अतिरिक्त भारतीयों को

औपनिवेशिकों से जो सांस्कृतिक झटका धीरे-धीरे मिला, उसके चलते इस परंपरा का पतन होता गया। इसके अतिरिक्त, कन्नड-भाषी क्षेत्रों को निराशाजनक और विवेकहीन ढंग से विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित किए जाने तथा स्थानीय भाषाओं एवं आवश्यकताओं को अनदेखा करते हुए शिक्षा प्रणाली की शुरुआत के साथ-साथ भू-राजस्व व्यवस्था में लागू किए गए परिवर्तनों के कारण स्थानीय लोगों की ज़िन्दगियों और संस्कृतियों में बदलाव आ गए।[8]

औपनिवेशिकों और उनके देसी समर्थकों ने प्रतिरोध को पराजित और समाप्त करने के लिए जो रणनीति अपनाई थी, उसे देसी देशभक्तों में से कम से कम कुछ ने तो समझ ही लिया था। उन्होंने व्यक्तियों के वीरतापूर्ण कारनामों और छुट-पुट कार्रवाइयों की अनुपयोगिता और ख़तरों को महसूस कर लिया था। अतः उन्होंने विरोध के वैकल्पिक उपायों की खोज शुरू कर दी। जहाँ कुछ ने आत्मकेन्द्रित बनकर अपनी दुर्दशा के कारणों का विश्लेषण करना प्रारंभ कर दिया, वहाँ कुछ लोग उस प्रभाव का आकलन करने लगे, जो उपनिवेशवाद के कारण देश पर पड़ा था। पहली प्रक्रिया ने नए 'शिक्षित' वर्गों को पैदा किया और उन्होंने अपने समाज तथा उस विचार-प्रणाली को 'साफ़ करने' का काम शुरू किया, जिन्होंने कुछ उन 'ग्रंथियों' को पैदा किया था, जो बदलते हुए समय से मेल नहीं खाती थीं। दूसरी प्रक्रिया 'निर्गम सिद्धांत' के प्रतिपादन की ओर ले गई।

इस बीच 1857 के विद्रोह और तत्पश्चात् ब्रिटिश ताज द्वारा भारत को अपने अधीन किए जाने से कन्नड-भाषी क्षेत्र से राजनीतिक और प्रशासनिक इकाइयों के मानचित्र दोबारा खींचे गए। अब सांस्कृतिक-आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों तरह से पाँच स्पष्ट रूप से पृथक् क्षेत्र पैदा हो गए। लेकिन इन सभी इकाइयों में एक चीज़ एक समान थी, और यह थी एक उस नए वर्ग का जन्म जिसे आधुनिकतावादी 'शिक्षित' कहते हैं। स्थानीय सरदारों और उनके सूरमाओं की प्रधानता अब अतीत की चीज़ बन चुकी थी और उनकी आवाज़ निर्णायक नहीं रह गई थी। शासक प्रतिस्थापनाओं के समर्थन के साथ ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ चारों ओर फैल गई थीं। वुड के सरकारी आलेख, शिक्षण संस्थानों की स्थापना ने कुछ हज़ार शिक्षित लोग पैदा कर दिए थे, जिनकी ज़रूरत औपनिवेशिक राज का विस्तार करने और गहराई तक पैंठाने के लिए थी। देशजों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर इन परिवर्तनों का भारी असर पड़ा। परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश तक राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने वाले लोगों के वर्ग वे नहीं रह गए थे, जो उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थे।[9]

अब हम प्रस्तुति के दूसरे भाग पर आते हैं। इसमें 'राष्ट्रवाद' की उस प्रक्रिया की चर्चा की जाएगी, जिसने कर्नाटक को धीरे-धीरे निमग्न कर लिया था, और उस साहित्य की भी, जो इससे भिड़ रहा था, इससे प्रेरणा ले रहा था और स्वतंत्रता की ओर कूच को गति प्रदान करने में योगदान कर रहा था। संस्कृतियों के संघर्ष में भारत की जनता के कदाचित किसी वर्ग ने इतना नहीं किया है, और परस्पर प्रभावित नहीं किया है तथा स्वयं को इतना अभिव्यक्त नहीं किया है, जितना कि आधुनिक भारत के साहित्यों में किया गया है। प्रस्तुति का यह भाग 'शिक्षित' अर्थात पश्चिमी शिक्षा प्राप्त लेखकों और उनकी रचनाओं के इर्दगिर्द घूमता है।

आधुनिक शिक्षा का लाभ केवल उभरती हुई उच्च जातियों और वर्गों द्वारा ही उठाया जा सकता था। उभरते हुए प्रतिरोध की आत्मा का निर्माण इस वर्ग की ज़रूरतों और भावनाओं ने ही किया था। शिक्षित वर्ग की पहली दो पीढ़ियों पर पश्चिम और इसके साहित्य का भारी प्रभाव था। इस वर्ग की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ स्वतंत्रता आंदोलन के राजनीतिक मोर्चे पर उनके बढ़ते हुए महत्त्व से भी मेल खाती हैं। आधुनिक भारतीय साहित्य भारत के सृजनात्मक मस्तिष्क, जैसा कि वह राजनीतिक-राष्ट्रवादी भारत में था, के भीतर की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों की देन है, अर्थात अपने-आपको समृद्ध करने के लिए उसने भारत के राजनीतिक राष्ट्रवाद और साहित्य, दोनों से अपने पश्चिमी औपनिवेशिक संपर्कों एवं परस्पर प्रभावों से भारी लाभ उठाया। राजनीतिक राष्ट्रवादियों की तरह, जो एक सीमा से अधिक जोखिम नहीं लेना चाहते थे, ऐसे साहित्यकार उपनिवेशवाद और पश्चिमी संस्कृति को लेकर काफ़ी सावधान थे।

आधुनिक भारतीय राष्ट्र की तरह आधुनिक साहित्य भी अपने निर्माण की उसी अवस्था में था। जिस प्रकार औपनिवेशिक संदर्भ में नस्लीय भेदभाव के ख़िलाफ़ राजनीतिक-राष्ट्रीय विरोध के नए-नए तरीक़े उभर रहे थे, उसी प्रकार उसी अनुभव के भीतर नया साहित्य जन्म ले रहा था। लेकिन भारतीय साहित्यिक नवजागरण के संपूर्ण ढाँचे में विभिन्न क्षेत्रों की अपनी भाषाई विविधताएँ थीं।

भिन्न-भिन्न भाषाओं और उनके साहित्यों ने अपनी अनुभूतियों और सर्जनात्मक अनुभवों को स्थानीय घटनाओं के प्रभाव में व्यक्त किया। इन रचनाओं की सर्वप्रधान विशिष्टता थी, उनकी विविध राष्ट्रीयताएँ और संस्कृतियाँ। राजनीतिक राष्ट्रवाद ने इसे समझ लिया और मान लिया था कि जिसे वह बनाने का प्रयास कर रहा है, उस 'राष्ट्र' में नानाविध राष्ट्रीयताएँ हैं और उनका बहुमत यह नहीं चाहता कि कोई एक भाषा अथवा कोई एक संस्कृति दूसरी पर आधिपत्य जमाए।

वे राष्ट्र का निर्माण इसी विविधता और इसके सर्जनात्मक विकास के दायरे में करना चाहते थे। भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति पश्चिम के साथ भारत के संपर्क और भारतीय राष्ट्रवाद तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद के बीच हितों के संघर्ष में निहित है। लेकिन विवाद इसको लेकर है कि साहित्य-संस्कृति के नवजागरण को क्या दो साहित्यों के बीच के विरोध में खोजा जा सकता है, हालाँकि संस्कृतियों के बीच विरोध मौजूद था। मानो इसी संदेह को साफ़ करने के लिए साहित्य में नया नवजागरण भारतीय भाषाओं में अंग्रेज़ी रचनाओं के अनुवादों और रूपांतरणों के साथ हुआ था। साहित्य के पुराने रूप कुछ समय तक खिंचते रहे, ठीक राजनीतिक अखाड़े की तरह, जैसे कि रजवाड़ों का बना रहना। परंतु इनके बीच ही उभरकर सामने आईं उदारवादी रचनाएँ, जो प्रभावित थीं मिल, बेंथम, वाल्टेयर, रूसो और अन्य उन लेखकों की रचनाओं से, जिन्होंने उनको जनतंत्र, व्यक्ति की स्वतंत्रता के उदीयमान विचार और अन्य उदारवादी धारणाएँ प्रदान कीं, भले ही वे कितनी ही अस्पष्ट क्यों न रही हों। अतः इसमें कोई विचित्र बात नहीं कि भारतीय राष्ट्रवादियों और लेखकों का पहला सरोकार इन प्रश्नों से था। लेकिन सृजनशील राष्ट्रवादी मस्तिष्कों को उपनिवेशवाद के विरुद्ध उकसाने वाली चीज़ थी भारतीय धर्मों और संस्कृतियों के ख़िलाफ़ औपनिवेशिकों की हमलावर नीति और ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ।

इस संघर्ष का अनुभव दक्षिण भारत को उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ। नवजागरण के अंकुर इसी की प्रतिक्रिया में फूटे थे। इसमें पहल बंगाल ने की और दूसरों ने अनुसरण किया। महाराष्ट्र ने प्रतिक्रिया की और कर्नाटक पीछे-पीछे चला। स्वयं भारतीय नवजागरण में तीन स्पष्ट तत्त्व हैं। प्रथम था ब्रह्म-समाज चरण जो उस समय अत्यंत क्रांतिकारी माना जाता था। दूसरा, सुधारवादी और धर्मजागरणवादी चरण आर्य समाज था। तीसरा इन दोनों से भिन्न था और मौजूदा सामाजिक ढाँचे में न्यूनतम समायोजन के पक्ष में और न्यूनाधिक यथास्थितिवादी था। इन भिन्नताओं के बावजूद ये सब अपने-अपने ढंग से उपनिवेशवाद विरोधी और स्वतंत्रता प्रेमी थे।

भारतीय साहित्य के नवजागरण की पृष्ठभूमि में ये तीनों तत्त्व थे। बहुत थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त कर्नाटक बड़े तौर पर धर्मजागरणवाद से ही जुड़ा रहा।[10] उन्नीसवीं शताब्दी के अंत की ओर, कार्की वेंकटरमन शास्त्री के अलावा, कर्नाटक के साहित्य और साहित्यकारों में एक दोहरापन पाते हैं, जो राजनीतिक राष्ट्रवाद की भी विशेषता है। कन्नड साहित्य में यह बड़े स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। यही कारण है कि कर्नाटक में हमें महिलाओं की दुर्दशा का सजीव चित्रण और सामाजिक-

धार्मिक सुधारों के प्रति सरोकार तो मिलता है, परंतु कोई गतिविधि होती दिखाई नहीं पड़ती।[11]

इसके मुख्यतया दो कारण थे। एक कारण तो सर्जनात्मकता से संबद्ध था—अधिकतर लेखकों की रचनाएँ या तो बाङ्ला और मराठी रचनाओं के अनुवाद और/या रूपांतरण थे, जो बड़े तौर पर सुधारवादी भावना से प्रभावित थे। दूसरा कारण क्षेत्रीय था—जातिगत बाध्यताएँ—अपने विश्वास पर मज़बूती से जमे रहने के साहस का अभाव और अपने समाज में अपनी स्थिति खो देने का भय; और फिर साहित्य उच्च जातियों और ख़ासतौर पर ब्राह्मण समुदाय से आया था, जो सबसे अधिक रूढ़िवादी था, लेकिन उनकी रचनाएँ बंगाली और मराठी लेखकों से ली गई थीं और वे आमूल सुधारवादी थीं, और यही था इस विभाजन का कारण भी। सामान्य तौर पर दक्षिण भारतीय और ख़ासतौर पर कर्नाटक के साहित्यिक परिदृश्य की अन्य दिलचस्प विशिष्टता, राष्ट्रवादी संदर्भ में तिलक का प्रभाव थी, जो संदेहवादी थे और औपनिवेशिक शासन में सामाजिक-धार्मिक सुधारों के विरोधी थे। वास्तव में दोहरेपन की अधिक सारवान व्याख्या इसी विशिष्टता से होती है। दक्षिण भारत के शिक्षित मध्यम वर्ग पर राष्ट्र-देश के संबंध में तिलक के विचारों का सर्वाधिक प्रभाव था। राष्ट्रवादी कर्नाटक, भावनात्मक रूप से, राजनीतिक और सांस्कृतिक तौर पर तिलक के साथ था और यही उसको तथा उसके कार्यों को प्रेरणा देता और नियंत्रित करता था। यह रुझान, विशेष तौर पर साहित्यिक क्षेत्र में तिलक की मृत्यु और गाँधी के उभरने के बाद भी जारी रहा। इसके साथ यह भी जोड़ा जाना चाहिए कि कर्नाटक के विभाजन के परिणामस्वरूप कन्नड राष्ट्रीयता अपनी विशिष्ट संस्कृति और राष्ट्रीयता का विकास नहीं कर पाई। स्पष्ट था कि इसको विभाजित रखना और उसके पड़ोसियों के साथ कृत्रिम प्रतियोगिता पैदा करना औपनिवेशिक चाल थी। अतः बाङ्ला और मराठी साहित्य के हटने के बाद कर्नाटक में जब राष्ट्रवादी साहित्य को अपने अतीत का पुनर्निर्माण करना पड़ा, तो इसका अतीत अपने-आपमें भ्रांतिपूर्ण था।[12]

भावनात्मक रूप से तिलकवाद से जुड़े कर्नाटक के साहित्यकारों का धर्मजागरणवादी होना स्वाभाविक था। व्यक्तिगत स्तर पर उनको प्रेरणा शिवाजी और गणेश से मिलती थी, लेकिन अपनी साहित्यिक रचनाओं में वे सुधारवादी थे और तिलकवाद के मुख्यतया वीरतापूर्ण धर्मजागरण के विपरीत उनके मुख्य चरित्र महिलाएँ थे। नवजागरण के प्रारंभिक दौर में यही स्थिति थी। कदाचित उनके विश्वासों, अनुभवों और कलात्मक रचनाओं में इस अलगाव के कारण ही उनकी

रचनाएँ पाठकों को प्रभावित करने में विफल रही थीं। इसी तरह से अपनी उन रचनाओं के बावजूद, जिनमें सामाजिक-धार्मिक सुधारों का विस्तार से वर्णन किया गया था, वे पाठकों पर असर नहीं डाल पाए थे। और चूँकि ये विवरण उनके अपनी क्षेत्रीय संस्कृति एवं रीतिरिवाजों की देन नहीं थे, अत: सामाजिक-धार्मिक अंधविश्वासों की हँसी उड़ाने पर भी उनकी रचनाएँ अपने पाठकों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाई थीं। इस पृष्ठभूमि में यह नोट करना दिलचस्प है कि उन्नीसवीं शताब्दी में स्थापित अनेक सामाजिक-धार्मिक सुधार संस्थाओं और संगठनों की स्थिति डाँवाँडोल ही बनी रही थी।

इसके उदाहरण हैं बेंगलुरु और मैसूर की विधवा-विवाह संस्थाएँ और कभी उत्तरी भाग में शुरू किए गए ऐसे ही अन्य संगठन। यहाँ अधिकांश लेखकों और उनके पाठकों के बीच कोई अंतर दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि दोनों की समझ और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि में भी कोई अंतर नहीं था।

इस पृष्ठभूमि में देखने पर प्रारंभिक नवजागरण काल के साहित्यकार दो वर्गों में आते हैं—धर्मजागरणवादी और यथास्थितिवादी। परंतु बात यह नहीं है कि उनके साहित्यिक अभिप्राय ऐसे ही थे। इस स्थिति को जब बंगाल और महाराष्ट्र के आमने-सामने रखा जाता है, जहाँ साहित्य ने समाज को झकझोर दिया था, तो दक्षिण और कर्नाटक में अचरजकारी अंतर है।[13] परंतु यदि इसे राष्ट्रवादियों—राजनीतिक संस्थाओं और व्यक्तियों—की धीमी गतिविधियों की पृष्ठभूमि में देखा जाए तो यह इससे पूरी तरह मेल खाता है और इतना स्वाभाविक लगता है कि यह इसके अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता था। परंतु यह नोट किया जाना चाहिए कि सामाजिक-धार्मिक सुधारों और आमूल परिवर्तनवाद की हँसी उड़ाने वाले साहित्यिक सृजन के लंबे दौर ने ऊँची जातियों के शिक्षित पुरुषों के छिपे हुए सुधार-विरोध और सुधार-विरोध की परंपरा को निश्चित रूप से हिला दिया था।[14] आश्चर्यजनक यह है कि ये नाटक और रचनाएँ अपनी उत्पत्ति का श्रेय कभी-कभी सुधारों के प्रति उदासीनता और विरोध के तिलकवादी दर्शन को देते हैं। इसके अलावा कि इन रचनाओं के विषय उनके अपने परिवेश से निकले थे, इनमें से कुछ रचनाओं को लोकप्रिय और प्रभावशाली और किसने बनाया था? कर्नाटक पर तिलकवादी प्रभाव के प्रमाण के रूप में साहित्य और समाज का यही पक्ष सामने आता है, परंतु यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इससे समाज में कोई गंभीर उथल-पुथल नहीं हुई। इन रचनाओं ने शिक्षित वर्गों की भावनाओं को प्रभावित तो किया, लेकिन इन वर्गों ने इन भावनाओं को राजनीतिक कार्रवाई में उतारने का कोई

प्रयास नहीं किया। कर्नाटक में कहीं भी सुधार-विरोधी संगठनों ने अपना सिर नहीं उठाया, लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि तिलकवादी प्रभाव बना रहा था। गाँधीवादी युग में इस प्रभाव ने स्वतंत्रता और सांस्कृतिक मोर्चे के नेताओं को स्वतंत्रता संग्राम से या तो दूर रखा अथवा तटस्थ कर दिया। यह गुट गाँधीवादी रचनात्मक कार्यक्रम तक से सहमत नहीं था।[15]

गाँधी के उभरने के बाद सामाजिक सुधार, स्वतंत्रता संघर्ष और भाषायी राज्यों के पुनर्गठन के एकीकृत कार्यक्रम को पुराने तिलकवादी लेकर नहीं चले थे। उत्तर-तिलकवादी युग में उनमें से बहुत से या तो निष्क्रिय हो गए अथवा दक्षिणपंथी सांप्रदायिक संगठनों में शामिल हो गए या अपने-आपको कर्नाटक एकीकरण आंदोलन तक सीमित कर लिया। एक नया संप्रदाय उभरकर सामने आया जो मानता था कि स्वतंत्रता-संघर्ष केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि एकीकरणात्मक है।[16] गाँधीवाद और देसी भाषा के विकास तथा भाषायी आधार पर राज्यों के निर्माण के प्रति गाँधीवादी प्रतिबद्धता ने एक राष्ट्रीय भावना को जगा दिया और इसने साहित्यिक-सांस्कृतिक एवं स्वाधीनता आंदोलन को बल दिया। कर्नाटक राष्ट्रीयता पहचान से परे विच्छिन्न हो चुकी थी और उलझन में हाथ-पाँव मार रही थी। वह अब निर्भयता का अनुभव कर सकती थी और वह स्वतंत्रता संघर्ष में सम्मिलित हो गई। लेखकों ने अपनी राष्ट्रीयता को 'भारत माता' के एक अंग और उसकी बेटी के रूप में स्पष्ट तौर पर देख लिया था।

कर्नाटक को उनकी माँ के रूप में देखा और चित्रित किया गया और माँ की कल्पना भारत माता की पुत्री के रूप में की गई। उपनिवेशवाद द्वारा निर्मित कठिनाई को वे इसी प्रकार पार कर पाए थे, और उनकी अपनी राष्ट्रीयता तथा वृहत राष्ट्र के बीच पूर्ण सामंजस्य देख पाए थे।[17] इस संदर्भ में कन्नड के साहित्यिक परिदृश्य की सबसे उल्लेखनीय विशिष्टता चारों ओर की घटनाओं के साथ इसकी पहचान थी। इस साहित्य में भारतीय-कर्नाटक समाज की अन्य समस्या पिछड़ा वर्ग और दलित आंदोलनों की आत्मा भी प्रतिबिम्बित होती है। मिथकीय और पौराणिक चरित्रों का सहारा लेकर पुजारी वर्ग के निहित स्वार्थों और उनकी शोषणकारी चालबाज़ियों की खिल्ली उड़ाई गई है।[18]

गाँधीवादी रचनात्मक कार्यक्रम को उस काल के कन्नड साहित्य में अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति मिली। ऐसा एक भी लेखक नहीं था, जो गाँधीजी के रचनात्मक प्रभाव से अछूता रहा हो। उनमें से अनेक सीधे तौर पर स्वाधीनता आंदोलन में भाग नहीं ले पाए थे, पर कर्नाटक निर्माण के संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए और इसको स्वतंत्रता

के उपनिवेश विरोधी वृहत् संघर्ष से भिड़ने से बचाने के लिए सांस्कृतिक मोर्चे पर सक्रिय थे। प्रस्तावित राज्य के विभिन्न केन्द्रों पर वार्षिक सम्मेलनों का आयोजन करके उन्होंने बृहत् समस्या के प्रति जनता के हितों को जीवित रखा था। कवियों के गीत राष्ट्रगान और राष्ट्रवादी मंच तथा जनता के बीच संवाद एवं प्रेरणा के माध्यम बन गए। जहाँ साहित्यकारों को प्रचंड राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम से प्रेरणा मिली थी, वहाँ संघर्ष के नेताओं ने शक्ति साहित्यकारों से प्राप्त की थी।

नेताओं के बलिदानों और गुणों का कीर्तिगान करते हुए और जनता को उनका अनुसरण करने को प्रेरित करते हुए गीत, नाटक और उपन्यास लिखे गए। अपनी रचनाओं को उन्होंने भारत और उसकी आज़ादी तक ही सीमित नहीं रखा। उनकी गहरी नज़रों ने संघर्ष कर रहे अछूतों, किसानों, महिलाओं और मेहनतकश लोगों को भी देखा और अपने तरीक़े से उनके दुःख-दर्दों को सामने लाने का प्रयास किया।[19] अपनी यादगार रचनाओं में उन्होंने संक्रमण के दौर से गुज़र रहे पूरे समाज की भावनाओं को प्रतिबिम्बित किया था। उनमें से अनेक ने सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन की जटिलताओं को सफलतापूर्वक पकड़ा था। उन्होंने घटनाओं का निर्धारण करनेवाली सनकों और भावनाओं, मानदंडों और मूल्यों, समस्याओं और पेचीदगियों का चित्रण किया।[20] इस तरह से भारतीय समाज के साथ-साथ राजनीतिक जागरूकता के भीतर शोषित वर्गों के संघर्ष को सामने ले आया गया था। लेकिन यह सब करते हुए अपनी क़लम से वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते थे, जिससे स्वतंत्रता संघर्ष कमज़ोर हो। वास्तव में कुवेंपू और बेंद्रे की रचनाओं ने जातिवादी आंदोलन के अनेक अनुयायियों को गाँधी के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने और इसके नेतृत्व पर अधिकार करने को सहमत कर लिया था।

परंतु यह नहीं कि सर्वश्रेष्ठ साहित्य यह सब प्रचार के लिए कर रहा था। चूँकि समकालीन घटनाएँ उनकी चेतना के अंग थीं, इसलिए वे उनकी रचनाओं का भी अंग बनीं। एक ऐसी परिस्थिति में जहाँ उत्पीड़न बढ़ रहा था, जब नेतृत्व हिचकिचा रहा था और जनता को बृहत् स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जोड़ने में नेतृत्व की असफलता के चलते वह अँधेरे में राह ढूँढ़ रही थी, संघर्ष में अंतिम विजय के प्रति आश्वस्त केवल साहित्यकार थे। नेताओं और जनता की काहिली पर उन्होंने व्यंग्य किए और ऐतिहासिक एवं मिथकीय अस्त्रों और चरित्रों का इस्तेमाल करके उनको सक्रिय होने को प्रोत्साहित किया।[21]

परंतु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साहित्यिक उत्पादन के बिम्बविधानों, रूपकों और उसकी वैचारिक आधारशिलाओं का दोहरापन साफ़ दिखाई देता है। वे

अक्सर ही वीर-पुरुष के राष्ट्रीयतावादी संघर्ष की तिलकवादी अवधारणा और गाँधीवादी सत्याग्रह एवं अहिंसा के बीच डोलते रहे। यह नोट करना दिलचस्प है कि कभी-कभी उनको गाँधीवाद की अपेक्षा अधिक प्रेरणा तिलकवाद से मिलती रही थी। यहाँ यह कहा जा सकता है कि कर्नाटक में (दक्षिण भारत के अन्य स्थानों की तरह ही) लेखकों पर तिलकवादी प्रभाव के बने रहने के पीछे बड़ा कारण राष्ट्रवादी रणनीति की अपर्याप्तता रहा है। ऐसा लगता है कि जनता में हर संभव उपाय से ओज भरने के लिए साहित्यकारों ने तिलकवादी अस्त्रों और प्रतीकों का इस्तेमाल तब किया था, जब राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया और बाद में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष कठिनाइयों से घिर गया था।

तिलकवाद में वे प्रतीक और अस्त्र मौजूद थे, जिनसे जनभावनाओं को प्रेरित किया जा सकता था। यहाँ यह जोड़ा जाना चाहिए कि तिलकवादी प्रतीकों का गाँधीवाद से कुछ अधिक लेना-देना नहीं था। राष्ट्र और स्वतंत्रता के बारे में गाँधीवादी विचार भिन्न थे। लेकिन गाँधीवाद के किसी सर्वसमावेशी कार्यक्रम की अनुपस्थिति, या यह कहना अधिक सही होगा कि उनके क्षेत्र में गाँधीवादी कार्यक्रम की पर्याप्त समझ न होने, के चलते साहित्यकारों ने तिलकवादी अस्त्रों का इस्तेमाल किया था।

मध्यम वर्ग के शिक्षित युवकों और छात्रों पर इन अस्त्रों का अचरजकारी असर पड़ा। परंतु उनमें से कुवेंपू और बेंद्रे सरीखों ने नेतृत्व एवं राष्ट्रवाद की सीमाओं को समझने के साथ-साथ एक उस अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का भी पूर्वानुमान कर लिया था, जिसमें ऊँच-नीच और ग़रीबी-अमीरी नहीं होगी। कुवेंपू ने विशेषरूप से 'विश्वमानव' और 'विश्वप्रज्ञान'—एक प्रकार के सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद—को अभिव्यक्ति प्रदान की थी।[22]

टिप्पणियाँ और संदर्भ

1. उदाहरण के लिए देखिए : के. राजाय्यन, *साउथ इंडिया रिबेलियन* 1800-1801 अथवा *दि फ़र्स्ट वार ऑफ़ इंडियन इंडिपेंडेंस*, मैसूर, 1968। यहाँ यह नोट करना दिलचस्प है कि भारत के बौद्धिक इतिहास के विशेषज्ञ, दक्षिण भारत के विख्यात इतिहासकार के. एन. पणिक्कर ने 1857 पर लिखते हुए कहा है, ''दक्षिण भारत शांत था।'' विस्तृत विवरण के लिए देखिए : बिपिन चंद्रा इत्यादि, *इंडियाज़ स्ट्रगल फ़ॉर इंडिपेंडेंस*, नई दिल्ली 1988, पृ. 33-40।
2. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : जी. एल. हलप्पा और एम. वी. कृष्णा राव द्वारा संपादित-*हिस्ट्री ऑफ़ फ़्रीडम मूवमेंट इन कर्नाटक फ़्राम बिगिनिंग टू 1857*, खंड 1. बंगलौर, 1962।

3. ये प्रकाशित हुए थे *दि इंडियन एंटीकुएरी वोल्यूम्स* में सं. 14 पृ. 293–303,1885 15 पृ. 343–353 1886. 16 पृ. 356–361. 1887 19 पृ. 413–423. 1890.

   कन्नड गाथागीतों का चयन। ये सब जे. एफ. फ़्लीट के थे। एक अन्य कृति का संपादन चार्ल्स ई. गावर ने किया था, जिसका शीर्षक था *.फ़ोक सोंग्स आ.फ़ सदर्न इंडिया,* बोम्बे 1875।
4. जे. एफ. फ़्लीट, ए सेलेक्शन आफ़ कन्नड बैलेड्स, *दि इंडियन एंटीकुएरी वोल्यूम्स,* सं. 14 1885, पृ. 293–294.
5. टी. टी. शर्मा, *कर्नाटकादल्ली स्वतंत्रता संग्राम* (कर्नाटक में स्वतंत्रता संग्राम) बंगलौर 1968, पृ. 102–105.
6. मेडोज़ टेलर, *दि स्टोरी ऑ.फ़ माई लाइ.फ़* (उनकी पुत्री द्वारा संपादित) 1857, नई दिल्ली, 1980, पृ. 308–315.
7. जे. एफ. फ़्लीट, सं. 2. पृ. 294.
8. अपनी रचनाओं और पत्रकारिता के क्षेत्र में अपने प्रयासों के द्वारा गलागनाथ, वेंकटारांगू कुट्टी, डिपुटी चन्नाबासप्पा, कार्की वेंकटरामन्ना शास्त्री, एस. जी. शास्त्री, बोलारा बाबू राव, भाष्यम देवादी जैसे नव शिक्षित लोगों ने साहित्यिक–सांस्कृतिक और राजनीतिक, दोनों क्षेत्रों में आधुनिकतावाद (ज्ञानोदय) का मार्ग प्रशस्त किया था। विस्तृत विवरण के लिए यह भी देखिए : एस. चंद्रशेखर, *साहित्य माथू चरित्रे* (साहित्य और राष्ट्रवाद), तिपुर, पृ. 1–9.
9. इन परिवर्तनों के बारे में विस्तृत चर्चा के लिए देखिए : एस. चंद्रशेखर, *कालोनियलिज़्म, कंफ़्लिक्ट एंड नेशनलिज़्म : साउथ इंडिया,* 1857–1947, वाइली ईस्टर्न, नई दिल्ली, 1995. पृ. 1–36.
10. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : एस. चंद्रशेखर, ''रिफ़ॉर्म, रिएक्शन एंड रीजन इन मैसूर'' (*क्वार्टली जनरल ऑ.फ़ दि मिथिक सोसाइटी,* खंड 76, बंगलौर 1985, पृ. 131–144)। और इसी लेखक का, ''प्री–रोमांटिक मॉडर्न कन्नड लिटरेचर, एज़ सीन इन दि बैकग्राउंड ऑ.फ़ सोशल डायनिमिज़्म'', शूद्र, कन्नड मासिक, खंड 14, सं. 6, अप्रैल 1788, बंगलौर, पृ. 15–22.
11. एस. चंद्रशेखर, सं. 2.
12. यह नोट करना दिलचस्प है कि दक्षिण भारतीय इतिहासकार के लिए वोडेयार और उनका मैसूर, जो आधुनिक कर्नाटक है, और कर्नाटक इतिहास की अंतिम सीमा का अंत, आज भी, विजयनगर साम्राज्य के विघटन के साथ हो जाता है।
13. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : एस. नटराजन, *ए सेंचुरी ऑ.फ़ सोशल रि.फ़ॉर्म्स इन इंडिया,* बोम्बे, 1959. और सी. हेम्साथ–नेशनलिज़्म एंड हिन्दू सोशल रिफ़ॉर्म्स, प्रिंसटन, 1964.
14. एस. चंद्रशेखर, शूद्र, सं. 2.

15. सबसे अच्छे उदाहरण वेंकटराव और उनके मित्र थे।

    एनी बेसेंट को 'पुठानी' कापराडे ने कहा था। एम.एन. जोइस के साथ साक्षात्कार, 6-7 मई, 1987. एम.एन. जोइस एक स्वतंत्रता संग्रामी, पत्रकार और पक्के तिलकवादी थे। लेकिन यह नोट करना दिलचस्प है कि उन्होंने एनी बेसेंट के मदनापल्ले (वर्तमान आंध्र में) स्थित थियोसोफ़िकल कॉलेज में अध्ययन किया था।

16. इस रुझान के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कुवेंपू, बेंद्रे और गोरूर थे।

17. उदारहण के लिए देखिए : के. वी. पुट्टा की 'हे भारथा जनन्या थानुजाथे, जयहे कर्नाटक माथे।'

18. उदाहरण के लिए देखिए : के. वी. पुट्टा की *बेरालगे काराल* और *शूद्र तपस्वी,* जिनमें शूद्रों के नायक एकलव्य और शंबूक के दु:ख-दर्दों का सजीव चित्रण किया गया था, जो उनको ऊँची जातियों के ब्राह्मणवादी अत्याचारों के कारण झेलने पड़े थे। इसी लेखक के *मालेगलाल्ली मादुमागालू* और *कानुरू हेग्गादिथि* नामक उपन्यासों में ऐसे विवरण भरे पड़े हैं।

19. विस्तृत विवरण के लिए देखिए : कुवेंपू, बेंद्रे, कारंथ, गोविन्द पाई, जी. पी. राजरत्नम, वी.सीता रमैया और मास्ति की रचनाएँ।

20. विशेष रूप से कुवेंपू एक ऐसे महान लेखक के तौर पर उभरकर आए थे, जिन्होंने ऊँची जातियों द्वारा पिछड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक शोषण के ख़िलाफ़ उनकी संचित घृणा को अभिव्यक्ति दी थी। विस्तृत विवरण के लिए देखिए, एस. चंद्रशेखर : समाज और साहित्य-समाज जो कुवेंपू के उपन्यासों से मिलता है। कर्नाटक हिस्ट्री कांग्रेस, धारवाड़, 2-4, फरवरी, 1985 में प्रस्तुत, अप्रकाशित लेख।

21. कुवेंपू ने 'पांचजन्य' का इस्तेमाल किया था, जिसका इस्तेमाल कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में पांडव सेना को उत्साहित करने के लिए किया था। बेंद्रे ने 'माता' प्रतीक का प्रयोग किया और 'मक्कालिवारेनाम्मा' से यह पूछते हुए उस पर कटाक्ष किया कि तैंतीस करोड़ भारतवासी क्या उसी के पुत्र हैं। राजरत्नम ने परशुराम के 'गंडुगोडाली' का प्रयोग किया था।

22. कुवेंपू की कृतियाँ, *अनिकेतन* और *विश्वमानव संदेश* साहित्यकार की विश्व-व्यवस्था संबंधी धारणा की स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं।

    विश्वमानव संदेश (1985 संस्करण, बंगलौर)

दुर्गादास : 1857 में एक राजभक्त की मानसिकता*

सब्यसाची दासगुप्ता

गोरे आए, गोरे आए

रुहेलखंड में विद्रोह के अपने वृत्तांत में दुर्गादास बनर्जी की, बरेली में अंग्रेज़ों के पहुँचने की वह आशंका हमारे सामने सजीव हो जाती है, जिसने विद्रोहियों में जोश पैदा कर दिया था। लेकिन प्रतीत यह होता है कि जिन विद्रोही सिपाहियों ने कंपनी के प्रति अपनी वफ़ादारी को खुलेआम छोड़ते हुए एक महत्त्वपूर्ण बाधा पार कर ली थी, उन्होंने पूरे तौर पर उस अधीनता से मुक्ति नहीं पाई थी, जो अंग्रेज़ों ने उनके दिमाग़ में भर दी थी।[1] अगर दुर्गादास की बात सच मानी जाए तो निरपवाद रूप से सारे सिपाही अंग्रेज़ों के साथ खुले मुक़ाबले से डरते थे। अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विचारे गए हमलों पर अकसर ही अनिर्णय और टालमटोल की छाप थी, जिनके चलते घातक विलंब होते थे।

दुर्गादास एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं और यदि इसका कोई आधार है तो यह अन्य के अलावा विद्रोह की अंतिम विफलता के कारणों को स्पष्ट कर सकती है, परंतु दुर्गादास के दावे पर विचार सावधानी के साथ करना चाहिए। इस बात की वास्तविक तौर पर पुष्टि करने के लिए विद्रोही रेजीमेंटों के उस आचरण का विस्तृत सर्वेक्षण करना ज़रूरी है, जो अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ने से पहले था। हमें विद्रोही शिविरों में चली उन चर्चाओं में जाना होगा, जो लड़ाई से पहले के निर्णायक क्षणों में हो रही थीं। क्या विद्रोहियों ने अनिर्णय प्रदर्शित किया था? क्या उन्होंने अंग्रेज़ों पर अचानक हमला करने और उनको पकड़ने के सुनहरे मौक़े को हाथ से निकल जाने दिया था?

---

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

दुर्भाग्य से विद्रोह संबंधी काग़ज़ात के अलावा ऐसे देशी वृत्तांत बहुत कम मिलते हैं, जिनसे पता चलता हो कि विद्रोही शिविरों में क्या चल रहा था; पर लड़ाई के मैदान में किसी सिपाही की मानसिकता क्या थी, हमें इसकी जानकारी तो विद्रोह के दस्तावेज़ों से भी नहीं मिलेगी। अपने पहले मालिक के ख़िलाफ़ लड़ाई से उसे क्या मिलने जा रहा था ? हमें नहीं पता, क्योंकि किसी भी विद्रोही ने अपने मालिक के ख़िलाफ़ अपनी बग़ावत के बारे में कुछ नहीं लिखा है।

अगर ऐसा कोई वृत्तांत पूर्वी उत्तर प्रदेश या बिहार के भोजपुर इलाक़े के किसी पुरानी अलमारी में कहीं धूल से अटा पड़ा हो तो उसका पता लगना अभी बाक़ी है।

दूसरे, विद्रोहियों और अंग्रेज़ों के बीच हुई लड़ाइयों से संबंधित हमारी जानकारी के स्रोत औपनिवेशिक हैं और वे निरपवाद रूप से विद्रोहियों के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण होंगे। नेतृत्व और समन्वय की कमी, और साफ़ तौर पर फूट संबंधी हमारी धारणाएँ बड़ी सीमा तक ब्रिटिश स्रोतों से निकली हैं। इतिहास आमतौर पर विजेताओं और उनके वफ़ादारों द्वारा लिखा जाता है। उनके बीच से अर्थ निकालना और जो दिख रहा है उसके पार जाना, यह काम इतिहासकारों और अनुसंधानकर्ताओं का है। यह बात हमें दुर्गादास बनर्जी के संदर्भीकरण के सवाल की ओर ले जाती है।

दुर्गादास बनर्जी का परिवार मूलतः आज के पश्चिम बंगाल के हुगली ज़िले का था, परंतु उनके पिता ने बंगाल आर्मी में नौकरी कर ली थी और इस वजह से उनके परिवार को बनारस आना पड़ गया। दुर्गादास और उनके दो भाइयों का जन्म उत्तर भारत के करनाल में हुआ था, पर परवरिश मुख्यतया बनारस में हुई थी।[2] 1851 में दुर्गादास की सेना में भर्ती और 1853 तक का कार्यकाल एक हद तक संयोग की बात थी। सुल्तानपुर में एक सेना शिविर लगाया गया और दुर्गादास ने, जिन्होंने तब तक अपने भविष्य के बारे में कुछ तय नहीं किया था, अपने को वहाँ प्रस्तुत कर दिया। दुर्गादास की भर्ती सहायक कार्यालय में एक क्लर्क के तौर पर हुई।[3] मोटे तौर पर उनका काम रेजीमेंट के काग़ज़ात सँभालना और वेतन के वितरण की देखभाल करना था। अपनी मेहनत और लगन से उन्होंने जल्दी की अंग्रेज़ अफ़सरों को प्रभावित कर लिया और उन्होंने दुर्गादास को कुछ वे काम सौंप दिए, जो आम तौर पर उनकी रेजीमेंट के हेड क्लर्क या बड़े बाबू के दायरे में आते थे, और संयोग से वह बंगाली था।[4]

प्रारंभ में रेजीमेंट हाँसी (वर्तमान हरियाणा में) में तैनात की गई, बाद में इसे बर्मा में लगा दिया गया।[5] बर्मा जाने के लिए रेजीमेंट को कोलकाता तक कूच करना

ज़रूरी था और फिर वहाँ से समुद्र द्वारा बर्मा पहुँचना था। बनर्जी के वृत्तांत में ऊँची जातियों के सिपाहियों के बारे में कुछ बेहद दिलचस्प वर्णन मिलते हैं, जो समुद्री यात्रा पर जाना नहीं चाहते। 1856 तक ऊँची जातियों के सिपाहियों को समुद्री यात्रा पर जाने से इंकार करने का क़ानूनी हक़ मिला हुआ था।[6] इसके चलते कमांडिंग अफ़सर सिपाहियों को समुद्री यात्रा के लिए फुसलाते-बहलाते रहते थे। इस काम में सफलता या विफलता अकसर इस पर निर्भर होती थी कि सिपाहियों के साथ यूरोपीयन कमांडर की निकटता कितनी है। समुद्री यात्रा के सवाल पर बंगाल आर्मी के इतिहास ने कई उपद्रव देखे थे। इसका एक बड़ा उदाहरण था बैरकपुर, जहाँ दूसरी चीज़ों के अलावा उपद्रव का एक बड़ा कारण समुद्री यात्रा था।

इस मामले में होशियारी से काम लिया गया था। जहाज़ में सिपाहियों के लिए विधिवत पूरी तरह से शुद्ध खाने और पानी के बहुत बड़े-बड़े डिब्बों को लादने के मामले में सतर्कता बरती गई। निस्संदेह यह सब कुछ देशी अफ़सरों और सिपाहियों की देखरेख में किया गया था, जिससे संदेह की कोई गुंज़ाइश न रहे। सिपाही नरम पड़े और समुद्र के रास्ते बर्मा जाने को राज़ी हो गए।

समुद्र यात्रा के लिए राज़ी होना कोई आसान बात नहीं थी। इसके साथ अनेक बातें जुड़ी थीं। यह व्यापक विकल्प और उस स्वतंत्रता का हिस्सा थी, जो उसे उसके धर्म से मिली हुई थी। ऊँची जाति के सिपाही की जाति और धर्म से संबंधित सवालों पर उसकी अनम्यता और अपरिवर्तनीयता को लेकर बंगाल आर्मी उसकी भावनाओं को बनाए रखने के ढर्रे पर चलती थी। उदाहरण के लिए, रेजीमेंट के क्वार्टर गार्ड पर घंटा बजाने के लिए घंटा पांडे नाम के वर्ग के लोगों को भर्ती किया गया था। स्पष्टतया बंगाली सिपाही मानते थे कि ऐसे काम उनकी जाति के नियमों के विरुद्ध हैं।[7]

बंगाल आर्मी के लिए धार्मिक स्वतंत्रता और पंक्तिबद्धता के बड़े भारी अर्थ थे। इसका इतिहास सैनिक कर्त्तव्य के आह्वान और अपने धार्मिक कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों संबंधी उसकी धारणा के बीच लगातार चलने वाले झगड़ों की गाथा थी। अतः बंगाल आर्मी संबंधी चर्चा में धर्म एक केन्द्रीय स्थान ले लेता है। इसको जिस एक संवेदनशीलता की आवश्यकता थी, वह बंबई और मद्रास की सेनाओं में बड़ी सीमा तक अनुपस्थित थी; परंतु कहने का यह अर्थ नहीं कि बंगाल आर्मी की गतिशीलता पर व्यावसायिक और आर्थिक कारणों का प्रभाव नहीं पड़ता था।

आइए, अब दुर्गादास के वृत्तांत पर वापस आएँ। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्गादास ने अपने को देशी सैनिकों का चहेता बना लिया था और रेजीमेंट में ही टिक

गए थे। दुर्गादास कहते हैं कि सिपाही उनका आदर करते थे, क्योंकि वह ब्राह्मण थे। वे उनके शारीरिक कौशल से भी प्रभावित थे। वे बहुत से हथियार चलाना जानते थे और एक अच्छे पहलवान थे। सिपाहियों को अचरज होता था, क्योंकि आमतौर पर यह माना जाता था कि बंगाली शारीरिक रूप से अशक्त होते हैं। लिखा गया है कि एक सिपाही ने उनसे पूछा कि आप बंगाली होने पर भी इतने शक्तिवान क्यों हैं? इस पर दुर्गादास ने उत्तर दिया कि कौन कहता है कि बंगाली ताक़तवर नहीं हो सकता? मैं ऐसे बंगालियों को जानता हूँ, जो ताक़त में तुम जैसे दस के बराबर हैं।[8]

इस बातचीत से साफ़ हो जाता है कि डरपोक बंगाली की कुछ धारणाएँ 1857 तक जड़ें पकड़ चुकी थीं। लड़ाकू और ग़ैर-लड़ाकू जातियों की धारणा पहले से ही चल रही थी। ऐसी धारणाओं ने जड़ें कैसे जमाईं? क्या ये इसी धरती से पैदा हुई थीं? क्या ये युगों से चली आ रही थीं? या इन धारणाओं को अंग्रेज़ों ने जन्म दिया था? अगर यह स्थिति है तो इनको पैदा किस तरह किया गया? क्या इन धारणाओं को बंगाल आर्मी की भर्ती नीतियों ने जन्म दिया था अथवा बात उलटी है?

इसका निश्चित उत्तर देना संभव नहीं। अगर भर्ती की नीतियों की बात करें तो लड़ाकू जातियों के सिद्धांत की जड़ें जम नहीं पाई थीं। संक्षेप में, लड़ाकू जातियों के सिद्धांत का अर्थ था कि कुछ जातियाँ लड़ाकू या सैनिक हैं, जबकि कुछ नहीं हैं; इसे जड़ें 1870 में तब जमानी चाहिए थीं, जब अंग्रेज़ों को रूस से ख़तरा दिखाई दे रहा था।

1875 से पहले के दौर में आधिकारिक तौर पर लड़ाकू जातियों का कोई सिद्धांत नहीं था। लेकिन अंग्रेज़ चोरी-छिपे इस पर चलते थे। विश्वास किया जाता था कि अवध और आज के बिहार क्षेत्र की ऊँची जातियों के सिपाही आदर्श लड़ाकू सिपाही हैं। वे बहादुर, ईमानदार और आज्ञाकारी हैं। इनकी तुलना में बंगाली जैसे अन्य समुदायों के लोगों को सेना से बाहर रखा जाता था। हालाँकि ऐसा कोई सरकारी आदेश नहीं था, परंतु परंपरा के रूप में बंगालियों को सेना में नहीं लिया जाता था।[9]

उदाहरण के लिए, दुर्गादास को विद्रोह के दौरान सेवाओं के लिए इनाम के तौर पर दिए गए प्रमाणपत्र में इस तथ्य का उल्लेख किया गया था कि ऐसी बहादुरी दिखाने के बारे में उसने कभी नहीं सुना था। निस्संदेह इसका निहितार्थ यह था कि बंगाली औसतन डरपोक थे और वे बहादुरी के लिए नहीं जाने जाते थे। ऐसा लगता है कि इस तरह की धारणाओं को स्थानीय समाजों द्वारा फैलाया गया था। जहाँ

पुरबियों ने यह बात फैला दी कि बंगाली डरपोक नस्ल के हैं, वहाँ बंगालियों ने भी मान लिया कि वे ग़ैर-लड़ाकू नस्ल के हैं।

दुर्गादास ने इस रुझान को बड़ी सीमा तक प्रदर्शित किया था। नैनीताल में अंग्रेज़ों की सेवा में लगे एक बंगाली डॉक्टर के बारे में बताते हुए दुर्गादास उसका चित्रण कायरता के चरम उदाहरण के रूप में करते हैं। वे घुड़सवारी की उसकी कोशिशों का जमकर मज़ाक़ उड़ाते हैं। सुबह-सुबह अंग्रेज़ों के शिविर पर विद्रोहियों के हमले का चित्रण करते हुए दिखाते हैं कि बुरी तरह से भयभीत डॉक्टर मैदान से किस तरह भागता है और एक चट्टान से टकराकर गिर पड़ता है।

कोई यह सोच सकता है कि दुर्गादास अपने को असाधारण बंगाली की तरह पेश कर रहे थे और इसलिए दूसरे बंगालियों को कायर दिखा रहे थे। संभवतया इससे यह प्रदर्शित होता है कि इन धारणाओं में बंगाली स्वयं भी विश्वास करते थे। और संभवतया स्वयं दुर्गादास भी अपवाद नहीं थे, इसलिए अपनी शारीरिक शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने का कोई मौक़ा हाथ से जाने नहीं दिया। बार-बार अपने पौरुष की चर्चा कदाचित बचाव का एक तरीक़ा था। यह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे लगातार उन समुदायों के बीच रहते रहे जिनको लड़ाकू समझा जाता था या वे ख़ुद को ऐसा मानते थे। आत्म-तुष्टि की प्रक्रिया का अर्थ था कि उनको भी अपने समुदाय के अन्य सदस्यों से अलग करना पड़ा था और यह प्रधानतया अपने समुदाय के सदस्यों के लिए नहीं, उनके अपने बचाव के लिए था।

पुरुषत्व की जिस धारणा को अंग्रेज़ों ने पैदा किया था, उसके अनेक महत्त्वपूर्ण निहितार्थ थे और इसका प्रभाव विद्रोह पर भी पड़ा था। औपनिवेशिक आधार सुनिश्चित करते थे कि बंगाल आर्मी के शैतान को कुछ ऊँची जातियाँ रोक देंगी। विद्रोह की संरचना, एक लंबे रास्ते में, बंगाल आर्मी में विद्रोह की फूट पड़ने को प्रभावित करेगी।

पुरुषत्व तथा अ-पुरुषत्व की धारणा, विद्रोह के लिए अपने पेचों के साथ, सांस्कृतिक भेद को भी जन्म देगी। यह विद्रोहियों और वफ़ादारों की अपनी जमात पैदा कर देगी। दुर्गादास एक ऐसे ही वफ़ादार थे।

दुर्गादास और विद्रोह

इससे हम विद्रोह के दौरान दुर्गादास की भूमिका पर पहुँचते हैं। बर्मा में थोड़े से साल बिताने के बाद 1856 के अंत में उनकी रेजीमेंट को बरेली में तैनात कर दिया गया। दुर्गादास को बरेली पसंद थी। वे उत्तर भारत की ज़िन्दगी के आदी थे। वे आराम की

ज़िन्दगी बसर करने लगे। थोड़े ही समय में उन्होंने शहर पर अपना रुतबा क़ायम कर लिया। शहर के ऊँचे तबक़े के लोगों से जान-पहचान हो गई। दुर्गादास का घर एक केन्द्र बन गया, जिसे हिन्दी में महफ़िल कहा जाता है। दुर्गादास ने अपने ख़ाली वक़्त में सितार बजाने जैसे ललित धंधों पर भी हाथ आज़माने की कोशिश की।

कुछ महीनों तक ज़िन्दगी इसी ढर्रे पर चलती रही। मार्च के आते-आते सिपाहियों के व्यवहार में कुछ स्पष्ट परिवर्तन दिखाई पड़े। जैसा कि दुर्गादास कहते हैं, "एक अफ़वाह फैल रही लगती थी कि जो नए कारतूस दिए जा रहे हैं, उनमें चिकनाई के लिए अंग्रेज़ गाय और सूअर की चर्बी का इस्तेमाल कर रहे हैं। इससे सेना में भारी तनाव पैदा होता लगता था। यह अफ़वाह भी थी कि बग़ावत होने जा रही है।" दुर्गादास का कहना है कि सबसे ज़्यादा असंतोष पैदल सेना के सिपाहियों में फैला लगता था। आख़िरकार 31 मई, 1857 को बरेली में बग़ावत हो गई। हर ओर मारकाट का माहौल था। हत्याएँ और लूटमार आम थी। दुर्गादास और उनके भाइयों ने विद्रोह शुरू होने की ख़बर तब सुनी थी, जब वे समाज में किसी से मिलने गए हुए थे।

उफनती हुई अराजकता में उनका घर लूट लिया गया। उसी समय दुर्गादास और उनके भाई का आमना-सामना घुड़सवार सैनिकों की एक टुकड़ी से हुआ, जिसे वे जानते थे। टुकड़ी के नेता दफ़ादार मोहम्मद शफ़ी ने ख़ुशी-ख़ुशी बताया कि वे अंग्रेज़ों के साथ होना चाहते थे। इस इरादे से वे छावनी में अंग्रेज़ दस्तों की ओर बढ़े, पर अंग्रेज़ों ने उनको विद्रोही समझा और भाग खड़े हुए। ज़ाहिर था कि अब इनके पास विद्रोहियों में मिल जाने के अलावा और कोई चारा नहीं था।

लेकिन दुर्गादास अंग्रेज़ों के साथ चट्टान की तरह मज़बूती से खड़े थे। कारण यह बताया गया कि उन्होंने अंग्रेज़ों का नमक खाया था। उनसे आशा भी नहीं की जा सकती थी कि वे उनको छोड़ सकते हैं।

बंगाल के विद्रोह का नेतृत्व बख़्त ख़ाँ नाम के जनरल के अधीन था। कुछ समय के लिए वे हालात के मालिक थे, हालाँकि एक पुराने ख़ानदान के वारिस नवाब बहादुर ख़ाँ ने ख़ुद को नवाब के तौर पर क़ायम कर लिया था। बहरहाल दुर्गादास पर लौटते हैं, जिनको बख़्त ख़ाँ के सामने लाया गया और बरेली में विद्रोही दस्तों का वेतन अधिकारी बनने को कहा गया। दुर्गादास ने सीधे-सीधे इनकार कर दिया। आगबबूला होकर बख़्त ख़ाँ ने उनको क़ैद करने का हुक्म दे दिया। बख़्त ख़ाँ ने आरोप लगाया कि बंगाली और अंग्रेज़ मिले हुए हैं।[10] उस समय बरेली की बंगाली आबादी पर अंग्रेज़ों के साथ मिली-भगत का आरोप लगाया गया। उनमें से

बहुत को जेल में डाल दिया गया; कुछ को कोड़े मारे गए, जबकि दूसरों की संपत्ति लूट ली गई। बंगालियों को अंग्रेज़ों के वफ़ादार के घातक रंग में रँग दिया गया। इस बीच हम एक अकेले बंगाली अर्थात दुर्गादास के नसीब पर लौटते हैं।

भारी मुसीबतों और जोखिमों के बाद दुर्गादास जैसे-तैसे नैनीताल पहुँच जाते हैं; जो तब भी अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में था। नैनीताल में उनको उनके अधिकार-पत्र दिए जाते हैं और दिल खोलकर सम्मानित किया जाता है। वहाँ वे घुड़सवारों का एक संगठन खड़ा करने में मदद करते हैं। अंग्रेज़ उनको एक लड़ने के क़ाबिल रेजीमेंट तैयार करने की ज़िम्मेदारी सौंपते हैं। वे रेजीमेंट के एक प्रमुख कमांडर और उसकी कुल देखरेख के प्रभारी थे। हालत गंभीर थी, क्योंकि विद्रोही हलद्वानी के बिलकुल नज़दीक थे। वक़्त का तक़ाज़ा था आगे बढ़ना और नैनीताल की प्रतिरक्षा के प्रमुख गढ़ कातुलडांगा पर क़ब्ज़ा करना।

सैनिक कार्रवाई में उतरना दुर्गादास की क़िस्मत में लिखा था। 1857 में ऐसा करनेवाले वह संभवतया इकलौते बंगाली थे। साफ़ है कि इन लड़ाइयों में उन्होंने नाम कमाया; विद्रोह के बाद इस बात को कहा जाता है कि अंग्रेज़ों ने भी स्वीकार किया था। बरेली में दोबारा वह अंग्रेज़ सेना के मुखिया के रूप में प्रवेश करते हैं। दुर्गादास बताते हैं कि पहले-पहल तो सब वीरान नज़र आता था। धीरे-धीरे लोग घरों से निकलने लगे और अंग्रेज़ों का ज़ोरदार स्वागत किया। निष्कर्ष यह था कि विद्रोहियों के अत्याचार झेलने के बाद बरेली के लोग अंग्रेज़ों के लौटने पर राहत महसूस कर रहे थे।[11]

यहाँ एक सवाल स्वाभाविक रूप से उठता है कि दुर्गादास इतने पक्के राजभक्त क्यों थे? वे विद्रोह के प्रति बंगालियों के आम रुझान का प्रतिनिधित्व करते थे या एक अपवाद थे? वफ़ादार किसने बनाया? दुर्गादास इस तथ्य के बावजूद वफ़ादार क्यों बने रहते हैं, जबकि अंग्रेज़ों की अदालतों में वे अपनी सारी संपत्ति गवाँ देते हैं, जिसका ख़ुद उन्हें मलाल होता है। दुर्गादास को जेल जाने की बदनामी भी उठानी पड़ी, हालाँकि वह इसका कारण नहीं बताते।

कहा जाता है कि 1857 की बंगाली वफ़ादारी की उत्पत्ति सांस्कृतिक दंभ से होती है। पुरबिया सिपाहियों के प्रति दुर्गादास की घृणा साफ़ नज़र आती है। वे बहुत साफ़ कर देते हैं कि विद्रोहियों में अक़्ल, तरीक़े और संगठन की कमी थी। उनके प्रति दुर्गादास का घमंडी रुख़ साफ़ दिखता है। कातुलडांगा की तरफ़ विद्रोहियों के आगे बढ़ने की संभावना पर अंग्रेज़ों के साथ चर्चा के दौरान वे इस संभावना को नकारते हुए ज़ोर देकर कहते हैं कि ये सत्तू पीने वाले सिपाही पूरे इंसान नहीं हैं। वे

हमला करने के क़ाबिल नहीं। लगता है कि 1857 तक बंगाली दंभ अच्छी तरह से जम चुका था। दूसरे समुदायों को नीचा मानना एक सुस्थापित दृष्टिकोण बन चुका था।

इसके बावजूद ऐसे दृष्टिकोणों के मूल को सुनिश्चित करना बहुत मुश्किल है। यहाँ मैं उनमें जाना भी नहीं चाहता, लेकिन मैं फिर कहता हूँ कि विद्रोह के बारे में बंगाली दृष्टिकोणों का निर्धारण आंशिक रूप से इसी सांस्कृतिक दंभ ने किया था। सांस्कृतिक तौर पर बंगाली अपने को बिहारियों के साथ जोड़ सकते थे या आम आवाज़ में शामिल हो सकते थे, लेकिन दुर्गादास जैसे किसी के लिए अपने भाग्य को सिपाहियों के साथ जोड़ने की बात सोचना तक असंभव था।

जहाँ एक अकेले दुर्गादास बंगालियों के आम दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते, वहीं सहजबोध कहता है कि विद्रोह के दौरान बनर्जी व्यापक दृष्टिकोणों के और अपने राजभक्तिवाद में चतुर के प्रतिनिधि हो सकते हैं।

राजभक्ति और राजद्रोह सापेक्ष प्रश्न थे। जिन पुरबिया सिपाहियों ने बग़ावत की थी, कंपनी की अनगिनत लड़ाइयों में वे भी कंपनी के लिए वफ़ादारी के साथ लड़े थे बड़ी लंबी-लंबी अवधि के लिए। बंगाल आर्मी में राज-विरोध की दरें बहुत कम थीं।[12] अतः यह एक सीधे-सीधे सोद्देश्यवादी निष्कर्ष निकालना कठिन है कि 1857 का विद्रोह लगातार बढ़ते हुए असंतोष का चरम बिन्दु था। ऐसे तर्क तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते हैं।

समस्या वर्तमान विद्रोह संबंधी इतिहास-लेखन को लेकर है। यह विद्रोह के दीर्घकालिक कारणों की खोज करता है और बंगाल आर्मी को असंतोष और अनुशासन की लंबे अरसे से चली आ रही समस्याओं के इतिहास के रूप में चित्रित करता है, जो चरम बिन्दु के तौर पर 1857 की महान घटना के रूप में सामने आई थीं। एक प्रकार के एकरेखीय इतिहास को रख दिया जाता है, जिसके अनुसार 1857 का विद्रोह लगातार मौजूद और बढ़ रहे असंतोष की अंतिम परिणति था। कोई कहता है कि इतिहास लेखन के ऐसे फंदों से समय के साथ निकल आता है। राजभक्ति या विद्रोह तो प्रासंगिक थे; 1857 में जो एक स्थिति पैदा हो गई थी, उसमें पुरबिया सिपाहियों ने विद्रोही बनना चुना था और आंशिक तौर पर सांस्कृतिक दंभ के चलते बंगालियों ने वफ़ादार बने रहना।

निष्कर्ष के तौर पर कोई यह टिप्पणी भी करना चाहेगा कि 1857 के बारे में लिखते हुए किस प्रकार के स्रोतों का इस्तेमाल किया जा सकता था। 1857 को नए परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए विद्यमान स्रोतों और संभवतया कुछ ऐसे स्रोतों का भी

अधिक व्यापक उपयोग करना आवश्यक हो सकता है, जिनका इस्तेमाल कम किया गया है। इतिहासकार के तौर पर हमारे लिए 1857 के कारणों का पता लगाना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इसका अर्थ क्या था? क्या यह स्वाधीनता युद्ध था जैसे घिसे-पिटे प्रश्नों को दोबारा जाँचने की ज़रूरत है? धर्म और 1857 के विद्रोह के विषय की तह में जाना, ख़ास तौर पर विलियम डेलरिंपल की हालिया पुस्तक के प्रकाश में, बहुत ज़रूरी है।[13] क्या यह धर्म-युद्ध था अथवा धर्म सिपाहियों के आर्थिक तथा व्यावसायिक व्यथाओं को बाहर लाने के लिए एक ऊपरी ढाँचा मात्र था? रुद्रांशु मुखर्जी और रजत राय ने धर्म और विद्रोह के प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है, लेकिन विचित्र है कि अपनी पुस्तक में विलियम इसकी चर्चा नहीं करते। इसके बावजूद विलियम डेलरिंपल के हस्तक्षेप के प्रकाश में धर्म और विद्रोह के संबंध को कदाचित एक नई नज़र से देखने की ज़रूरत है।

डेलरिंपल से सहमत होते हुए भी यह सही है कि विद्रोह के इतिहासकारों का बहुमत यह मान कर चलता है कि 1857 हिन्दू-मुस्लिम एकता की देदीप्यमान घटना थी। विद्रोह के दौरान बरेली के अपने जीवन के बारे में लिखते हुए दुर्गादास हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों की घटनाओं का जिक्र करते हैं। ऐसे एक मामले में एक मुसलमान, जो अंग्रेज़ी राज में एक हिन्दू से मुक़दमा हार गया था, ने विद्रोह का इस्तेमाल बदला लेने के लिए किया था। उसने कुछ मुसलमान गुंडों को लगाकर उसके अहाते में कटी गाय के टुकड़े फिकवा दिए। उस समय कुछ हिन्दू विद्रोही सिपाही हिन्दू के घर के आसपास थे और उन्होंने दख़ल दिया। उससे, दुर्गादास बताते हैं कि, शहर के मुस्लिम गुंडों और हिन्दू हिमायतियों के बीच जमकर लड़ाई हुई।[14]

ऐसी भी कुछ घटनाएँ मिलती हैं, जिनमें ख़ास तौर पर नवाब के हिमायतियों द्वारा पैसे के लिए हिन्दू व्यापारियों को सताया गया था। दुर्गादास इनको हिन्दू-मुस्लिम विवाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[15] प्रत्यक्ष के आगे जाकर छिपे अर्थ निकालने के लिए इतिहासकार को अपनी आलोचनात्मक क्षमताओं का उपयोग करना चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम विवाद के ये तथाकथित उदाहरण क्या वास्तव में वर्ग-विवाद थे और उस पुराने हिसाब-किताब को चुकता करने के लिए थे, मूलतया जिनका धर्म से कुछ लेना-देना नहीं था या इसके पीछे कोई सांस्कृतिक कोण था, जिसकी व्याख्या आर्थिक न्यूनीकरण के द्वारा नहीं की जा सकती है?

और फिर इतिहास के परंपरागत लेखन की अपनी सीमाएँ हैं। जहाँ वे हमको विद्रोह के कारणों और उसकी प्रकृति के बारे में बता सकते हैं, वहीं वे अकसर ही घटनाओं के ठोस कारणों का और इसका अहसास नहीं कराते कि जो लोग विद्रोह

के बीच रह रहे थे, उनके लिए विद्रोह का असल मतलब क्या था। 1857 के दौर की जीवनियों और साहित्य की भूमिका यही से प्रारंभ होती है। जैसा कि विभाजन के मामले में हुआ था, यह अकसर साहित्य ही है; जो बताता है कि जिन आमलोगों ने इसे देखा था, उनके लिए 1857 क्या मानी रखता था।

ग़ालिब की आत्मकथा[16] में किए गए वर्णन, मैटकाफ़ द्वारा संपादित दुर्गादास के सहज विवरण हमें अच्छा प्रवेश-बिन्दु देते हैं। रजत राय[17] और हाल ही में डेलरिंपल की रचनाएँ 1857 के दैनिक जीवन के अच्छे विवरण प्रदान करती हैं कि उन उथल-पुथल भरे दौर में रहने का मतलब क्या था।[18]

परंतु डेलरिंपल के साथ समस्या यह है कि वे एक सुप्रवाह लेख लिखने और कभी-कभी विद्रोह के मंत्रमुग्ध करने वाले वर्णन मात्र से संतुष्ट हो जाते हैं। वे विश्लेषण नहीं करते, जो कदाचित एक जानबूझकर लिया गया निर्णय है। इस प्रकार के वर्णनों के साथ समस्या यह होती है कि वे अकसर उसके आगे देख नहीं पाते, जो साफ़ दिख रहा होता है, अर्थात् कथा के भीतर की कथा। यही कारण है कि डेलरिंपल के धर्म और 1857 से संबंधित विचार इकतरफ़ा और बेजान हैं। वे स्रोतों के अंबार पर आधारित कार्य के महत्त्व को कम कर देते हैं, जो अन्यथा एक बहुत अच्छा कार्य होता है। जैसा कि हम सब जानते हैं कि डेलरिंपल विद्रोह के अभिलेखों का, दिल्ली में विद्रोह संबंधी फ़ारसी और उर्दू के देसी स्रोतों के समृद्ध समूह का अच्छा इस्तेमाल करते हैं। परंतु यहाँ इसका उल्लेख किया जा सकता है कि विद्रोह के अभिलेखों का प्रयोग करने के मामले में किसी भी तरह से डेलरिंपल अकेले नहीं हैं। विद्रोह के अभिलेखों का इस्तेमाल तलमुज़ ख़ालदान[19] और एस. ए. रिज़वी द्वारा अच्छी तरह से किया जा चुका है।

संक्षेप में 1857 पर किसी आदर्श कार्य में साहित्य के साथ सुविस्तृत अंतरापृष्ठ होगा और यह विभिन्न प्रकार के स्रोतों को मौलिक ढंग से सम्मिलित करेगा। अनुभव बताता है कि आदर्श तक बिरले ही पहुँच पाता है, लेकिन इसके लिए प्रयास तो हमेशा ही किया जा सकता है।

टिप्पणियाँ और संदर्भ

1. दुर्गादास बनर्जी, *अमर जीवन-चरित*, पृ. 91.
2. वही, पृ. 18.
3. वही, पृ. 15.

4. वही, पृ. 17.
5. वही, पृ. 20.
6. वही, पृ. 20.
7. देखिए, सब्यसाची दासगुप्ता की अप्रकाशित पी-एच. डी. शोध प्रबंध, इन डिफ़ेंस ऑफ़ ऑनर एंड जस्टिस : सिपोय रिबेलियंस इन द नाइनटिंथ सेंचुरी, जे. एन. यू. 2004.
8. दुर्गादास बनर्जी, *अमर जीवन-चरित,* पृ. 12.
9. लड़ाकू नस्ल सिद्धांत पर सबसे अच्छा लेख कौशिक राय का है : रिक्रूटमेंट डॉक्ट्राइंस ऑफ़ कोलोनियल इंडियन आर्मी 1859-1913. *इंडियन इकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खंड 34, जुलाई 1997. यह भी देखिए, सब्यसाची दासगुप्ता, अप्रकाशित शोध प्रबंध, इन डिफ़ेंस ऑफ़ ऑनर एंड जस्टिस : सिपोय रिबेलियंस इन दि नाइनटिंथ सेंचुरी, जे. एन. यू. 2004
10. दुर्गादास बनर्जी, *अमर जीवन-चरित,* पृ. 38.
11. वही, पृ. 350.
12. वही, पृ. 20.
13. वही, पृ. 125.
14. वही, पृ. 159.
15. वही।
16. मिर्ज़ा ग़ालिब, दस्तंबू
17. देखिए, रजत राय, *दि फ़ेल्ट कम्युनिटी : कॉमनेलिटी एंड मेंटेलिटी बिफ़ोर दि इमरजेंस ऑफ़ इंडियन नेशनलिज़्म,* ऑक्सफ़ोर्ड, 2003.
18. विलियम डेलरिंपल, *दि लास्ट मुग़ल : दि फ़ाल ऑफ़ ए डायनेस्टी,* दिल्ली, 1857, इंडिया, 2006.
19. देखिए, पी. सी. जोशी द्वारा संपादित *रिबेलियन,* 1857, *ए सिम्पोज़िम* में तलमुज़ ख़ालदान का लेख, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

पहचान के रूप में स्वतंत्रता : विद्रोह का साहित्य*

प्रफुल्ल कुमार मोहंती

वह जो चाहता है स्वतंत्रता
भय को कर देता है एक ओर,
क्रोध को कर देता है एक ओर
और कर देता है अंत इच्छाओं का
सच में यही पुरुष बना है
सदा स्वतंत्र रहने को। (गीता)

मानव सभ्यता का इतिहास 'भय से स्वतंत्रता' और 'स्वतंत्रता का भय' के बीच डोलता रहता है। सभी विचारक और संत मानते हैं कि मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र है, परंतु स्वतंत्रता के व्यापार में स्वतंत्रता की प्रासंगिकता सदा ही एक नियंत्रक कारण रहा है। यह प्रासंगिकता भौतिक, नैतिक, अस्तित्वात्मक, राजनीतिक अथवा सामाजिक हो सकती है। लेकिन संदर्भ के बिना यह अत्यंत अमूर्त है, जिस पर विचार करना मुश्किल है। पश्चिम ने व्यक्ति की 'स्वतंत्र इच्छा' पर ज़ोर दिया है, जो अकसर ही भाग्य या जीवन के पूर्व-निश्चित मार्ग के विरुद्ध संघर्ष करती थी। यूनानी त्रासदी का उपादान भाग्य और स्वतंत्र इच्छा के बीच संघर्ष है। स्वतंत्र इच्छा और भाग्य के संचलन में भारतीय कल्पना का वही सिद्धांत रहा है, जिसको पूर्वजों ने भाग्य और पुरस्कार कहा था। विचारों की भारतीय पद्धति में अपने अस्तित्व की पूर्णता के लिए अपनी स्वतंत्र खोज को मूल्यों के मापों के भीतर प्रदर्शित करना होता है। पुरस्कार मानव जगत के चार प्रमुख पक्षों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के ढाँचे के अंतर्गत प्रदर्शित होता है। इन आधारभूत मूल्यों के परे पुरस्कार का कोई वास्तविक अर्थ

---

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

नहीं। अगर कोई मूल्य परिमापों को परे रखता है तो वह या तो नैतिक विद्रोही है अथवा व्यवस्था का दुश्मन। स्वतंत्रता कभी भी विभाजक या विनाशक शक्ति नहीं, हालाँकि राजनीतिक संदर्भ में यह प्राय: एक अवज्ञाकारी शक्ति होती है, जो एक विरोधी पहचान को सामने लाती है।

स्वतंत्रता एक चेतना है, मनुष्य होने की चेतना। मनुष्य द्वारा इतिहास में अपनी पहचान तलाशने के लिए यह मनुष्य की आत्मा में आनुभविक और सात्विक दोनों प्रकार से साकार होती है। प्रेरक और सर्जक के रूप में स्वतंत्रता का सिद्धांत इतिहास की गतिशीलता के मूल में है। मानव आत्मा स्वतंत्र है। हेगेल ने कहा था, "अपने अन्य गुणों के साथ-साथ आत्मा स्वतंत्रता से भी संपन्न है।" (*इंट्रोक्शन टू दि फ़िलोसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री*)। लेकिन व्यक्ति द्वारा स्वतंत्रता का इस्तेमाल जब अपनी पहचान तलाशने या उसे उस प्रकृति, समाज अथवा संस्कृति में स्थापित करने के लिए किया जाता है, जिसमें वह पैदा हुआ है, तो वह इसकी प्रगति को कम करता या रोकता है। इससे यह सवाल पैदा होता है कि स्वतंत्रता इच्छा है अथवा आदर्श? लेकिन विचार इच्छा के ज़रिए कार्य करता है: कोई काम करने या इससे अलग हो जाने की इच्छा। इच्छा में शब्दों, कार्यों और यहाँ तक कि प्रलोभन तक का चयन आता है, अत: सभ्यता के निर्माण की प्रक्रिया के दौरान इतिहास में मनुष्य की इच्छा का सामना मनो-नैतिक, जैव-भौतिक और सामाजिक-राजनीतिक विमर्श से होता है। किसी व्यक्ति या राष्ट्र की पहचान का निर्धारण स्वतंत्र इच्छा और नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के बीच मुक़ाबला से होता है। स्वतंत्र इच्छा अगर नैतिक रूप से कार्य करना चुनती है, तो एक नैतिक पहचान का निर्माण होता है और यदि संक्रमित इच्छा के साथ करती है, तो एक नकारात्मक पहचान उभरती है।

परंतु स्वतंत्रता को अधिकतर राजनीतिक संदर्भ में ही समझा जाता है। सार्वभौम संदर्भ में मनुष्य की पहचान का निर्धारण पुरानी दुनिया के 'भाग्य' और 'स्वतंत्र इच्छा' के बीच के संघर्ष ने किया था। ग्रीक-रोमन और हड़प्पन-वैदिक सभ्यताओं के बाद की नई व्यवस्था पहचान को एक नैतिक-राजनीतिक क्षेत्र के संदर्भ के साथ-साथ एक सांस्कृतिक शिला के रूप में देखती है। अपने दावे को सिद्ध करने के लिए मैं दो दृष्टिकोणों, जो यदि परस्पर-विरोधी नहीं तो असमान तो हैं ही, एक-दूसरे के सामने रखना चाहूँगा, जिनमें एक पश्चिमी है और दूसरा भारतीय।

(अ) अच्छाई को चुनने और स्वीकारने की जड़ें इच्छा में स्थित हैं, न कि तर्क में, और यह मानकर चला जाता है कि रचनात्मक और सक्रिय विषय की

स्वतंत्रता के चयन के बिना इतिहास की वास्तविक गतिशीलता संभव नहीं है। भारत और चीन दोनों की प्राचीन संस्कृतियों की पूर्णतः अनैतिहासिक या इतिहास-विरोधी प्रकृति इस तथ्य के कारण है कि इसमें रचनात्मक विषय की स्वतंत्रता प्रकट नहीं की गई थी। यह वेदांत में भी प्रकट नहीं की गई थी, जो महानतम दार्शनिक प्रणालियों में एक है और जिसमें स्वतंत्रता की अवधारणा मानवीय एवं दैवीय आत्माओं की एकता का परम मिश्रण है। (निकोलस बेरदेव, *दि मीनिंग ऑफ़ हिस्ट्री*)

(ब) स्वयं में मनुष्य एक तर्कशील पशु-मात्र नहीं, बल्कि एक ऐसी आत्मा थी] जिसका ईश्वर और देवीय सार्वभौम शक्तियों के साथ निरंतर संबंध बना हुआ था। आत्मा का सतत अस्तित्व जन्म से जन्म की ओर उर्ध्वमुखी प्रगति का एक चक्र था। मानव जीवन उस उद्विकास का शिखर था, जो चेतन आत्मा में समाप्त होता था, तीर्थयात्रा में उस जीवन का प्रत्येक क़दम, मनुष्य के प्रत्येक कार्य का आशय परिणाम था, जो चाहे भावी जीवन में हो अथवा भौतिक अस्तित्व से परे विश्व में।

(श्री अरविन्द : *दि फ़ाउंडेशंस ऑफ़ इंडियन कल्चर*)

स्पष्टतः दोनों में बल इस पर दिया गया है कि मनुष्य एक तर्कशील प्राणी मात्र नहीं। लेकिन बेरदेव भारतीय चिन्तन में स्वतंत्रता को अस्वीकार करते हैं और इसे अनैतिहासिक या इतिहास-विरोधी कहते हैं, वहाँ श्री अरबिन्द चेतन आत्मा की ओर उर्ध्वमुखी गति पर ज़ोर देते हैं। नैतिक ढाँचे में स्वतंत्रता का चयन, जैसा कि बेरदेव कहते हैं, प्रगति ईश्वर के साथ संबंध है और श्री अरबिन्द के अनुसार सार्वभौम आत्मा के प्रति है। भारतीयों में अगर स्वतंत्रता की भावना नहीं होती तो सार्वभौम ढाँचे में वे अपनी इच्छा (तर्क नहीं) का इस्तेमाल आत्मा की चेतना बनने के लिए कैसे कर पाते? दूसरी ओर हीगल कहते हैं कि "आत्मा स्वतंत्रता से भी संपन्न है" जो स्वयं समाविष्ट और स्वयं-संपूर्ण चेतना है। नैतिक और दैवी ढाँचे के भीतर स्वतंत्रता की यही आत्मा अपनी पहचान का चयन करती है।

विश्व के सभी साहित्यों में, चाहे वह ग्रीक हो या भारतीय, यहाँ तक कि चीनी में भी, व्यक्ति की स्वतंत्रता का केन्द्र नैतिक ढाँचे के भीतर ही रहा है। ग्रीक नाटक और महाकाव्यों में अपनी स्वतंत्रता का दावा करने के लिए व्यक्ति नैतिकताओं का चुनाव करता है। सोफ़ोक्लीस की विख्यात त्रयी—*ओडिपस रेक्स, ओडिपस एट कुलोनेस* और *एंटीगोन*—में राजा उचित कार्रवाई का चुनाव अपनी परिस्थिति के तर्कसंगत-नैतिक संदर्भ में करता है और अदृश्य शक्तियों के हाथों मनुष्य की

असहायता की रहस्यपूर्ण व्याख्या तक पहुँचता है। लेकिन वह कार्रवाई की अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखता है और प्रबोधन या मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्योचित ढंग से उसके परिणामों को सहता है। स्वतंत्रता के लिए मनुष्य के आग्रह का अन्य उदाहरण *बाइबल* में बुक ऑफ़ जोब है। ईश्वर के दंड को जोब 'इच्छा' की स्वतंत्रता के साथ स्वीकार करता है। जैसा कि उसकी पत्नी ने सुझाया था, वह 'ईश्वर का कोसना और मर जाना' चुन सकता था। लेकिन वह दैवी आदेश स्वीकार करता है और अपनी स्वतंत्रता का इस्तेमाल स्वयं को ईश्वर से जोड़ने के लिए करता है और अपना पुरस्कार और पुनर्प्रतिष्ठा पाता है। नैतिक ढाँचे के भीतर स्वतंत्रता का इस्तेमाल और उस पर जमे रहने का एक प्रभावशाली उदाहरण राजा हरिश्चंद्र की कथा में मिलता है। दुष्टतापूर्ण शक्तियाँ जोब की तरह हरिश्चंद्र की भी परीक्षा लेती हैं, और उनकी छलयोजित सचाई को सामने लाने के लिए जोब की तरह हरिश्चंद्र भी अटल रहता है। लेकिन मूल्यों में अपने स्वाभिमान के साथ अथवा यूँ कहें कि नैतिक मूल्यों के संदर्भ में उसने अपनी इच्छा की स्वतंत्रता का त्याग नहीं किया। वह अपनी इच्छा की स्वतंत्रता पर जमे रहकर अर्थात स्वतंत्रता-पूर्वक चुनाव कर और परिणाम स्वीकार करके अपना पुरस्कार और पुनर्प्रतिष्ठा पाता है।

पश्चिम में जिसे 'भाग्य और स्वतंत्र इच्छा' कहा जाता है, भारतीय संदर्भ में उसे 'भाग्य और पुरस्कार' अर्थात् भाग्य और अस्तित्व का आग्रह कहा जाता है। भारत और ग्रीस के प्राचीन साहित्य में 'स्वतंत्र इच्छा' ब्रह्मांड के नैतिक ढाँचे में काम करती है, जो बहुत दुःखों को सहने के बाद स्पष्ट हो पाता है। भारतीय यह मानते थे कि पुरस्कार या अस्तित्व को अवज्ञाकारी नहीं, बल्कि ऐसी शक्ति होनी चाहिए, जो सार्वभौम नियमों से मेल खाती हो।

परंतु स्वतंत्रता को आमतौर पर राजनीतिक पहचान के रूप में लिया जाता है। मुख्यतः एकसत्तावाद (मोनीज़्म) से निकला एकतंत्रवाद (मोनार्की) पहचान को विशिष्टता प्रदान करने वाली व्यक्तिगत इच्छा को स्वतंत्र गतिविधि की अनुमति नहीं देता था। एकतंत्रवादी समाजों में राजनीतिक संगठन का अधिनायकवाद मनुष्य और समाज पर दैवी नियंत्रण का प्रतिस्थापन था। परिणामस्वरूप सत्ता-संघर्ष ग्रीक-रोमन काल से लगभग सोलहवीं शताब्दी के अंत तक जारी रहे थे। मनुष्य की स्वतंत्रता उन सत्ता समूहों की दया पर निर्भर थी, जो मुख्यतः समाज पर नियंत्रण के लिए लड़ रहे थे। ईश्वर का अपना जगत और वह जगत जिसे दैवी एजेंटों ने विरासत में पाया था, अठारहवीं शताब्दी में ही मानवीय जगत बन पाया था, जिसमें यथार्थ का केन्द्र मनुष्य था। अलेक्ज़ेंडर पोप का यह कथन कि ''मानव जाति का समीचीन

अध्ययन मनुष्य है'' और भारतीय संतों का यह कथन कि ''सुनो रे भाइयो, मनुष्य ही परम सत्य है उसके ऊपर कोई नहीं'', सभ्य हुए समाज में लगभग एक साथ फैल गए। यह मनुष्य की गरिमा और स्वतंत्रता की तैयारी थी। जनतंत्र—मनुष्य के नए धर्म—का रास्ता इसी ने साफ़ किया था। 1776 में स्वाधीनता की अमरीकी घोषणा मानव-सभ्यता के इतिहास में एक युगांतरकारी घटना थी। इसने पुरानी मिथकीय-धार्मिक व्यवस्था को बदला, उसे नया किया और आधुनिक बनाया और इसे मनुष्य का नया धर्म बना दिया, जो मनुष्य की स्वतंत्रता की मूल धारणा पर आधारित था; और यह स्वतंत्रता दुनिया भर में निरंकुशता और दासता के बीच के संघर्ष से जन्मी एक विद्रोही ऊर्जा है, लेकिन यूरोप और एशिया के अधिकांश मामलों में स्वतंत्रता मृतप्राय थी, क्योंकि लोग अपनी स्वतंत्रता का इस्तेमाल मानव जीवन को गुणात्मक रूप से बेहतर बनाने के लिए नहीं कर पाए थे। भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता और पहचान का पहला आह्वान 1857 में किया गया, जिसे सामान्यतया भारत की दबी हुई आत्मा का विद्रोह या जागरण कहा जाता है। 19वीं शताब्दी के दौरान नैतिक रूप से सदा स्वतंत्र इस आत्मा ने यूरोप, भारत तथा अन्य प्राचीन सभ्यताओं से राजनीतिक स्वतंत्रता की माँग की थी।

ब्रिटिश शासकों ने तिरस्कार के साथ जिसे 'सिपाही विद्रोह' कहा, वह एक नहीं अनेक अर्थों में भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम था। सेना में भारतीयों के जिस विद्रोह का इस्तेमाल ब्रिटिशों ने भारतीयों के विरुद्ध किया था, वह निरंकुश सत्ता के ख़िलाफ़ चुनौती को अभिव्यक्त करता था। यह चुनौती उस देश की सांस्कृतिक आकांक्षाओं पर आधारित थी, जो परंपरागत तौर पर अगर दब्बू नहीं, तो, विनीत और स्वयं-संत्रस्त था। ताँत्या टोपे, मंगल पांडे और बाद में रानी लक्ष्मी बाई, (झाँसी की रानी) के नेतृत्व में एक भारतीय पहचान के पुनरुत्थान की लहर जाति और धर्म की सीमाएँ लाँघते हुए जंगल की आग की तरह फैल गई। सही है कि 'युद्ध' संगठित और सुनियोजित नहीं था, लेकिन इसने नैतिक ईमानदारी, देशभक्ति, भारतीय मूल्यों के प्रति प्रेम और सर्वोपरि राजनीतिक स्वतंत्रता की नई पहचान पैदा कर दी। इसने साझे इतिहास और एक सम्माननीय अतीत की भावना को जन्म दिया। विदेशी मालिकों के अधीन मूलविहीनता की भावना सुस्थापित संस्कृति और इतिहास पर अभिमान में बदल गई। *विद्रोह* शब्द सही में ही एक राष्ट्र की जागृति का, एक वि-उपनिवेशित पहचान का, एक स्वतंत्र, सुस्थापित और प्रतापी पहचान का प्रतीक था। यह समूचे देश के भाषा साहित्य में प्रतिबिम्बित होता था, जैसे कि बंगाल में बंकिमचंद्र और उनके पीछे-पीछे रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं शरतचंद्र, ओड़िशा में

फ़क़ीरमोहन सेनापति, उत्तर भारत में प्रेमचंद तथा अन्य और भारत के केन्द्र में अनेक अन्य। देश अचानक ही स्वतंत्रता और स्व-शासन की, इसकी राजनीतिक पहचान की, नई जीवन-शक्ति से स्पंदित हो रहा था।

दूसरी ओर विद्रोह का दृष्टिकोण एक नई पहचान है, जो संस्थापना की अवज्ञा करती है और अपने मूल्यों एवं लक्ष्यों को बदलने को ललकारती है। ऐसी चुनौतियों का परिणाम प्रायः रक्तपात और मूल्यों के संपूर्ण दिशाभ्रम में और परिणामस्वरूप पहचानों के विरूपण में होता है।

स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध को विफल होना ही था, क्योंकि विद्रोह कुछ लोगों और स्थानों तक ही सीमित था। आधे भूखे, आधा नंगे आम आदमी को स्वाधीनता की कोई वास्तविक समझ नहीं थी। मेरठ, झाँसी और अवध के राज्यों के पतन के बाद अंग्रेज़ों द्वारा स्वाधीनता युद्ध को दबाने में कोई समय नहीं लगा। साथ ही, युद्ध से हिले हुए अंग्रेज़ों ने प्रशासन में थोड़ी-बहुत पारदर्शिता लागू की और जाति एवं धर्म के मामलों में उन्होंने सावधानी की नीति अपनाई, लेकिन स्वतंत्रता-संग्राम को दबाने से भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य मज़बूत हुआ था। ईस्ट इंडिया कंपनी का स्थान ब्रिटिश शक्तियों के कड़े राजनीतिक नियंत्रण ने ले लिया, परंतु इन घटनाओं को भारतवासी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युद्ध के विवरणों को टुकड़ों में स्थानीय भाषाओं में दर्ज कर सके थे, जिनको थोड़े से डरे-सहमे लोग छुप-छुपकर पढ़ा करते थे। विडंबना यह है कि 'बग़ावत' का पूरा चित्रण एक ब्रिटिश उपन्यासकार नोर्मन पार्टिंगटन ने *फ़्लोरेड दि गेंगेज* में किया था। भारतीय दृष्टिकोण का कोई भी ख़याल किए बग़ैर उपन्यास दमन को सही ठहराने और साम्राज्य का गौरव गान करने का प्रयास करता है, जो स्वाभाविक है।

परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश ने भारत में बौद्धिक जागरण के प्रारंभ की छाप छोड़ी थी। जहाँ अंग्रेज़ बिजली घर बनाने, रेलों का जाल बिछाने और औपचारिक शिक्षा के गढ तैयार करने में लगे थे, वहाँ भारतीय मानस अपने दर्शन एवं सृजनात्मक साहित्य के ज़रिए एक आध्यात्मिक पहचान स्थापित करने के उपाय और साधन खोजने में व्यस्त था। भारतीयों के लिए वैज्ञानिक अनुसंधानों तक पहुँचने का कोई रास्ता नहीं था, पर दर्शन और अध्यात्म उन्हें विरासत में मिले थे, जिनको राम मोहन राय, विवेकानंद, रामकृष्ण, दयानंद सरस्वती तथा अन्य महान लोगों ने बढ़ावा दिया। इन महान मस्तिष्कों ने भारत के दार्शनिक संदर्भ का पुनर्निर्माण

किया और भारत के आध्यात्मिक सारतत्त्व को खोजकर दमित राष्ट्रीय जीवन को जागृत किया। ब्रह्म-समाज ने हिन्दूवाद और ईसाइयत के बीच एक पुल बनाने की कोशिश की और राजा राममोहन राय ने सामाजिक सुधारों और अंधविश्वासों के विरुद्ध अपने अनवरत संघर्ष के द्वारा जातियों में जकड़े समाज के ढकोसलों को दूर करने के प्रयास किए। कर्मयोगी एवं मानवतावादी दार्शनिक विवेकानंद ने अपने आध्यात्मिक गौरव को जगाने के लिए राष्ट्र का आह्वान किया।

अपने जीवन में प्रत्येक व्यक्ति की तरह प्रत्येक राष्ट्र की एक विषय-वस्तु होती है। इसका केन्द्र एक आध्यात्मिक स्वर होता है। एक संगति का निर्माण करने के लिए अन्य स्वर इसके चारों ओर आते हैं। यदि कोई राष्ट्र अपनी इस राष्ट्रीय जीवनशक्ति को, जो सदियों प्रसारित होकर इसकी अपनी बन जाती है, उतार फेंकने का प्रयास करता है तो वह राष्ट्र मर जाता है। किसी राष्ट्र, जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन, की जीवनशक्ति का निर्माण राजनीति करती है, जबकि अन्य में कला, और इसी प्रकार दूसरे राष्ट्रों में दूसरी चीज़ें। भारत में केन्द्र का निर्माण धार्मिक जीवन से होता है, जो राष्ट्रीय जीवन के संपूर्ण संगीत का प्रमुख स्वर है।

अगर 1857 ने दमन और धार्मिक उत्पीड़न से स्वतंत्रता के अर्थों में भारतीय पहचान की तलाश शुरू की थी, तो बीसवीं शताब्दी के मोड़ पर आई नई जागृति इस महान राष्ट्र की आध्यात्मिक पहचान के अर्थों में थी। स्वतंत्र आत्मा की चेतना और हर प्रकार के दमन का प्रतिरोध करने की ऊर्जा भारत की पहचान बन गई। दक्षिण अफ़्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय आत्मा शक्ति का प्रयोग करने के बाद 1915 में गाँधी भारत आते हैं। इस बीच अपनी कविता और कथा साहित्य के द्वारा बंकिम चंद्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द तथा शरतचंद्र ने आधुनिक स्कूल पाठकों की पहली पीढ़ी को भारत की सच्ची पहचान के प्रति जागरूक बनाने का यत्न किया। अपनी रचना *सावित्री* में श्री अरविन्द आध्यात्मिक स्वतंत्रता की भारतीय पहचान को नई ऊँचाइयों पर ले गए। *सावित्री* में उन्होंने प्रदर्शित किया सावित्री के तर्कों से सत्यवान का जीवित हो उठना। यह पारिवारिक जीवन की वापसी नहीं थी; यह देह के हाड़-मांस के ढाँचे से सारतत्त्वों के यथार्थ में जागरूकता की अवस्था थी। जन्म-मृत्यु के चक्र और मांस-मज्जा के हज़ारों दुःखों से मुक्ति प्रेम के द्वारा प्राप्त होती है, जो आत्मा की एक पहचान है। श्री अरविन्द की दृष्टि में स्वतंत्रता की सच्ची पहचान है आत्मा की स्वतंत्रता। *बिनोदिनी* एवं अपनी अनेक कथा रचनाओं में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस पहचान को सामाजिक-वैयक्तिक आयाम प्रदान किए। *राजलक्ष्मी* में शरतचंद्र ने सामाजिक जीवन के एक स्वयं से भागने के

निरोधी तनावों की रचना की, लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता का बिगुल अपने उपन्यास *आनंद मठ* से बंकिम चंद्र ने बजाया और अनपढ़ तथा वंचित पुरुषों और स्त्रियों के दिलों में स्वतंत्रता की इच्छा पैदा की। वास्तव में कमज़ोर और निरक्षर लोगों को इतना बल दिया कि वे अन्याय और स्वतंत्रता के लिए लड़ने के योग्य बन सके।

सामान्य जन में पहचान की जिस चेतना को दार्शनिकों, विचारकों, सुधारकों, कवियों और उपन्यासकारों ने झकझोर दिया था, उसे नेतृत्व प्रदान किया गाँधी ने। स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के अपने संघर्ष में हथियारों के रूप में उन्होंने जिन मूल्यों का उपयोग किया था, वे थे अहिंसा, सत्य के प्रति प्रेम और सत्याग्रह एवं स्वदेशी। ये मूल्य ठेठ भारतीय और भारतीय पहचान के चिह्न हैं। वास्तव में गाँधी ने इन मूल्यों को आधुनिक और ऐतिहासिक रूप से तर्कसंगत और भारतीय संकल्प का अभिन्न अंग बनाया। गाँधी अशोक के अहिंसावादी मूल्यों और सत्य एवं सदाचारिता के साथ ऐतिहासिक संबंध स्थापित करते हैं। मानव सभ्यता के इतिहास में अशोक ने यह प्रदर्शित किया था कि नागरिक समाज के प्रशासन में हिंसा या तलवार का कोई उपयोग नहीं है। तलवार की ज़रूरत साम्राज्य स्थापित करने के लिए होती है, लेकिन साम्राज्य का निर्माण हो जाने के बाद एक वीर प्रशासक के लिए तलवार एक आभूषण से अधिक मूल्य नहीं रखती। इसके स्थान पर जनता या राष्ट्र की आकांक्षाओं को बनाए रखने का काम प्रेम, सत्य, और धर्म या न्याय के मानवीय और नैतिक सिद्धांत करते हैं। अशोक द्वारा स्थापित इन मूल्यों के साथ ऐतिहासिक संयोजन ने स्वतंत्रता के गाँधीवादी आंदोलन को एक अद्वितीय भारतीय विशिष्टता और पहचान दी। गाँधी के शब्दों में :

"स्वराज एक पवित्र, एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ स्व-शासन और आत्म-निग्रह है, न कि सभी प्रतिबंधों से स्वतंत्रता जैसा कि प्रायः 'स्वाधीनता' को माना जाता है।

"स्वराज से मेरा अभिप्राय जनता की सहमति से बनी उस भारत सरकार से है, जिसको वयस्क लोगों की अधिकतम संख्या द्वारा चुना गया हो, चाहे वे पुरुष हों अथवा स्त्री, जिनका जन्म देश में हुआ हो या वे अधिवासी हों, जिन्होंने शारीरिक श्रम से राज्य की सेवा में योगदान किया हो, और जिन्होंने मतदाताओं के तौर पर अपना नाम पंजीकृत कराने का कष्ट उठाया हो···वास्तविक स्वराज कुछ के द्वारा सत्ता प्राप्त करने से नहीं, बल्कि सत्ता का दुरुपयोग होने की स्थिति में सबके द्वारा इसका विरोध करने की सामर्थ्य हासिल करने से आएगा।"

(*ग्राम स्वराज*)

अन्य शब्दों में स्वतंत्रता के दुरुपयोग की स्थिति में आम स्त्री-पुरुषों को उसका विरोध करने की स्वतंत्रता ही असली स्वतंत्रता है और यही लोगों की पहचान है। इस प्रकार गाँधी ने भारतीयों को सत्ता के विरुद्ध खड़ा होने और सत्ता के दुरुपयोग की अवज्ञा करने को तैयार किया। स्वतंत्रता की ओर उनके अभियान में स्वयं-चयनित और आत्म-आरोपित निग्रह ने भारतीयों को एक नई पहचान दी।

पिछली सदी के 30 और 40 के दशक के प्रमुख साहित्यकारों, जैसे कि राजा राव, मुल्कराज आनंद और आर. के. नारायण ने राष्ट्रीय विद्रोह को अपनी-अपनी शैली में और अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ाया। राजा राव की रचना *कांथापुरा* गाँधीवादी मूल्यों में एक प्रयोग था और उनकी दूसरी रचना *सर्पेंट एंड दि रोप* में इसके आध्यात्मिक सार-तत्त्व में भारत की दोबारा खोज की गई थी। विषयों और पात्रों के अपने चित्रण में मुल्कराज आनंद ने भी सत्य एवं करुणा के मूल्यों की खोज की थी। *कुली* और *अछूत* में उन्होंने मानवीय गरिमा के प्रति आदर के साथ दबे-पिसे और सामाजिक तौर पर वंचित लोगों की ज़िन्दगियों का चित्रण किया था। उन्होंने तथाकथित उच्च वर्गों के जातिगत राजनीति की भर्त्सना की और निचले तथा दबे-कुचलों के हितों की पैरोकारी की। आनंद की दृष्टि में आज़ादी कोई सामान्य मूल्य नहीं थी; आज़ादी का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को था। सामाजिक असंतोष को व्यक्ति की स्वतंत्रता के द्वारा एक सामाजिक अर्थ में दूर किया जा सकता है।

''एक संभावित शांतिपूर्ण जीवन के संघर्ष को सफल बनाने का एकमात्र रास्ता प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वतंत्रता की खोज करना है। उत्पीड़ित के प्रति करुणा पीड़ा से थोड़ी राहत दिला सकती है और दूसरों के प्रति प्रेम किसी व्यक्ति को आत्म-यंत्रणा से बचा सकता है। अच्छे जीवन का एकमात्र संभव मार्ग उच्चतर चेतना के लिए संघर्ष है।'' (मुल्कराज आनंद का साक्षात्कार डी. के बरुआ द्वारा, *साउथ एशियन रिव्यू, 15:12 1991,* में पृ. 38 पर प्रकाशित)

मुल्कराज आनंद देश की राजनीतिक स्वतंत्रता से संतुष्ट नहीं थे। उनकी चिन्ता सबसे नीचे के व्यक्ति को लेकर थी, सामाजिक समरसता के लिए जिसका स्वतंत्र होना आवश्यक था; और यह स्वतंत्रता थी भूख और भय से नफ़रत। वास्तव में गाँधी भय से मुक्ति चाहते थे; जिसे मुल्कराज आनंद ने इस आशा के साथ कथा का रूप दिया था कि सामाजिक व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर बैठे लोग स्वतंत्र हो सकें। स्वतंत्रता आंदोलन में आर. के. नारायण की कोई विशेष रुचि नहीं थी, लेकिन उनके दिन-प्रतिदिन के जीवन और यथार्थ के साथ उनके फँसाव का

चित्रण कर उन्होंने मालगुडी के लोगों को एक ख़ास पहचान दी थी।

इस प्रकार अंग्रेज़ी राज से स्वाधीनता प्राप्त करते-करते गाँधी, नेहरू और राजा राव, मुल्कराज आनंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द जैसे साहित्यिक व्यक्तित्वों के चारों ओर निर्मित एक भारतीय पहचान ने पश्चिमी जगत पर एक व्यापक प्रभाव पैदा कर दिया था। यह गाँधी का भारत था और लोगों ने आशा की थी कि उसके राजनीतिक ढाँचे, उसकी प्रशासनिक संस्कृति, उसके साहित्य और सामाजिक मूल्यों पर भारतीय पहचान की छाप होगी। परंतु भारत की स्वतंत्रता पर अनैतिहासिक विभाजन का और इसके बाद सबसे दुर्भाग्यपूर्ण सांप्रदायिक दंगों का दाग़ लग गया। सआदत हसन मंटो की रचनाएँ और खुशवंत सिंह की *ट्रेन टु पाकिस्तान* सब कुछ बयान करती हैं। लेकिन इस बदनुमा धब्बे के बावजूद शीत-युद्ध के वर्षों में भारत की पहचान एक आशा थी। लेकिन यह होना नहीं था। गाँधी को हत्यारे की गोली ने मार दिया और गाँधीवाद को धीरे-धीरे वोट द्वारा मार दिया गया था। भारत की पहचान अपनी दिशा और गरिमा दोनों ही खो बैठी। स्वतंत्रता पश्चात के लेखकों ने विवेकानंद, श्री अरविन्द, राजा राव और मुल्कराज आनंद जैसे लेखकों की विरासत को लगभग अनदेखा कर दिया और वे पश्चिमी आधुनिकता तथा उत्तर-आधुनिकवाद की राह में खो गए। नेहरू के *पंचशील* की विफलता और ख़ास तौर पर 1962 की सैनिक पराजय के बाद लोगों ने हमारी सफलता का दोष भारतीय नेतृत्व और इसके सांस्कृतिक आधारशिलाओं पर मढ़ने का प्रयास किया। उन्होंने राजनीति, सामाजिक जीवन और धर्म में दोबारा उन्हीं आशंकाओं को खोजा। शिवशंकर पिल्लई, बेंद्रे, गोपीनाथ मोहंती और अन्य जैसे लेखकों ने आम आदमी को मिथकीय अंधविश्वासों और जातिगत-धार्मिक विवादों से मुक्त करने के प्रयास किए; जबकि कमला मार्कण्डेय, अनिता देसाई, रूथ प्रावेर झाबवाला, अरुण जोशी, कमला दास, निस्सीम इर्ष़ीकिएल इत्यादि ने परकीयीकरण, पहचान संकट, महिला उत्पीड़न और भारत की उभरती हुई पश्चिमी संस्कृति तथा भारत की परंपरागत संस्कृति के बीच के कु-संतुलन के बारे में लिखा। अतीत कुछ के लिए एक जानवर का बोझ था, जबकि कुछ के लिए बीते दिनों की याद और कुछ के लिए यह एक सनक था। *मार्ग* और *भाषा* साहित्यों की भिन्नता बढ़ गई और अपने ढंग के लेखन को उचित ठहराने के नए-नए सिद्धांत सामने आने लगे। भारतीय लेखन में अंग्रेज़ी और देसी भाषा साहित्यों में कभी सहमति नहीं बन सकी। अकादमियों और विश्वविद्यालयों में बहुसंस्कृतिवाद और उत्तर-उपनिवेशवाद इस तरह से गूँज कर बाहर आने लगे कि औसत भारतीय की सहन-शक्ति लगभग जवाब देने लगी। उत्तर-उपनिवेशवादियों

ने उपनिवेशीकृत मानसिकता का तिरस्कार किया और समकालीन तमाम बुराइयों को उपनिवेशियों से जोड़ दिया। पहचान की नई राजनीति के साथ साम्राज्यवाद और प्राच्यवाद पर स्वदेशी संस्कृतियों के परिभाष्यकारों के रूप में हमला किया गया। दूसरी ओर गाँधी, नेहरू, पटेल और मौलाना आज़ाद की जीवनियों ने स्वतंत्रता आंदोलन के भिन्न-भिन्न इतिहासों का पुनर्निर्माण किया। नए इतिहास-लेखन ने भारतीय पहचान और स्वतंत्रता के राष्ट्रीय अर्थ को विकृत किया। भारत के इतिहास का पुनर्निर्माण करने के प्रयास में सुनील गंगोपाध्याय ने माइकेल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे वास्तविक चरित्रों के साथ उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास की पुनर्रचना की। इतिहास के परिष्कार में *सेई समय* और इसकी उत्तरकथा *प्रथम आलो* (वे समय और भोर की पहली रोशनी) श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। इनके साथ ही सलमान रुश्दी, विक्रम सेठ, अरुंधती राय, उपमन्यु चटर्जी, अभिताभ घोष, पंकज मिश्र तथा अन्य ने भारत की संस्कृति, पहचान और इसके आंतरिक जीवन को नया चेहरा प्रदान किया। इनकी रचनाओं में भारत नैतिक, राजनीतिक और भौतिक रूप से भी दरक रहा है। आदिवासी, दलित और अल्पसंख्यक सर्व-भारतीय पहचान स्वीकार नहीं करते और अपनी ही भर्त्सना करने वाले इतिहास के अस्वीकार की संस्कृति सामने लाते हैं।

आज अपनी पहचानों में हम बँटे हुए खड़े हैं। हममें से अधिकांश के लिए स्वतंत्रता का अर्थ है चुनाव, दलगत राजनीति और भ्रष्टाचार। जाति, धर्म, भाषा और नदियाँ तथा पहाड़ तक हमारी पहचान के परस्पर-विरोधी प्रतीक हैं। स्वतंत्रता निहित स्वार्थों के लिए गिरवी रख दी गई है और पहचान राजनीतिक लाभ उठाने के लिए सौदेबाज़ी की एक मुद्रा बन गई है।

अपनी पहचान को पुनर्परिभाषित करने के लिए हमें एक और गाँधी की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

1857 का विद्रोह : गोआ की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन

प्राजल साखरदंडे

निम्नलिखित पंक्तियों में शहंशाह बहादुर शाह ज़फ़र द्वितीय ने वर्णन किया था कि रूस और इराक़ को हराने की डींग हाँकने वाले अंग्रेज़ भारत में किस तरह से एक मामूली से कारतूस से उखाड़ फेंके गए हैं:

ना ईरान ने किया न शाह रूस ने
अंग्रेज़ों को तबाह किया कारतूस ने

'सिपाही विद्रोह', 'स्वाधीनता का प्रथम युद्ध', 'राष्ट्रीय विद्रोह', 'विद्रोह', 'एक सामंती विद्रोह', 'स्वतंत्रता का संग्राम', जैसे विभिन्न नामों से वर्णित 1857 का विद्रोह हमारी मातृभूमि के इतिहास का एक महान अध्याय है।

इस निबंध में 1857 की तथाकथित 'सिपाही विद्रोह' और 1870-71 तथा 1895 के दौरान मेरे राज्य गोवा की 'सिपाही विद्रोह' के बीच एक तुलना करने की कोशिश की गई है।

गोवा पुर्तगालियों के अधीन 1510 में हुआ था और 1583 में पुर्तगालियों की धार्मिक नीति और अभियोजन के विरुद्ध यहाँ पहला विद्रोह हुआ। 1857 के चर्बी लगे कारतूसों की ही तरह गोवावासियों ने पुर्तगालियों की धर्मान्तरण की नीति का विरोध किया था। पुर्तगाली हिन्दुओं के मंदिरों के पवित्र तालाबों, कुँओं, उनकी तुलसी के पौधों, आँगनों और छतों पर गाय और सूअर के मांस के लोथड़े फेंक देते थे।

पुर्तगालियों के विरुद्ध पहला विद्रोह राणों ने तब किया, जब पुर्तगालियों ने उनके भू-अधिकारों का अतिक्रमण किया और स्थानीय हिन्दुओं के सामाजिक-

---

* मूल अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

सांस्कृतिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में वैसे ही दख़ल देना शुरू किया, जैसे अंग्रेज़ों ने सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाज़ों के मामले में किया था और भू-स्वामियों के अधिकारों का अतिक्रमण किया था। अपने सामंती विशेषाधिकारों को बहाल करने के लिए अवध के तालुक़ेदारों और नवाबों का विद्रोह पुर्तगालियों के विरुद्ध उन राणों के विद्रोह के समान ही था, जो अपने सामंती विशेषाधिकारों को बहाल करने के लिए कर रहे थे।

1857 के विद्रोह का एक सबसे प्रमुख कारण सैनिक था। ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों के बीच असंतोष फैला हुआ था। सूबेदार के तौर पर एक भारतीय पैदल सैनिक का अधिकतम वेतन यूरोपीय रंगरूट के न्यूनतम वेतन से भी कम था। ज़्यादातर तो हिन्दुस्तानी सिपाही की पदोन्नति ही नहीं होती थी। ब्रिटिश सेना के अफ़सर हिन्दुस्तानी सिपाहियों पर भरोसा नहीं करते थे। क़दम-क़दम पर हिन्दुस्तानी सिपाही के स्वाभिमान को रौंदा जाता था। अनेक अवसरों पर हिन्दुस्तानी सिपाही अपमानित महसूस करते। उनके साथ तिरस्कारपूर्ण ढंग से व्यवहार किया जाता। कम वेतनमान और पदोन्नति के बेहद बुरे अवसरों सहित सेवा की अपनी ख़राब शर्तों को लेकर वे बेहद नाराज़ थे। हिन्दुस्तानी सिपाहियों को अतिरिक्त भत्ता भी नहीं दिया जाता। 1844 में बंगाल की चार रेजीमेंटों ने लड़ाई के लिए सिन्ध जाने से तब तक इंकार कर दिया था, जब तक अतिरिक्त भत्ते की उनकी माँग को मंजूर नहीं किया जाता। 1854 के डाकघर एक्ट ने निःशुल्क पत्र भेजने की सिपाहियों की सुविधा को ख़त्म कर दिया था, जो उनको पहले मिला करती थी।

इसके अलावा 1856 में अंग्रेज़ों ने सिपाहियों की मातृभूमि अवध पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसकी नवाबी फ़ौज ख़त्म हो गई और साठ हज़ार से ज़्यादा सिपाही बेकार हो गए थे। इससे सिपाहियों की भावनाओं पर चोट लगना स्वाभाविक था। मौलाना आज़ाद के अनुसार, ''सेना में और ख़ासतौर पर बंगाल सेना में बग़ावत की आम जहनियत की शुरुआत अवध पर क़ब्ज़ा किए जाने के बाद हुई··· इससे लोगों को ज़बरदस्त झटका लगा था···उनको अचानक यह महसूस हुआ कि उनकी मदद और क़ुर्बानी से कंपनी ने जो ताक़त हासिल की है उसका इस्तेमाल उनके ही शहंशाह को नेस्तनाबूद करने के लिए किया जा रहा है।''

लॉर्ड केनिंग की सरकार ने 1856 में जनरल सर्विस एस्टेब्लिशमेंट एक्ट पारित किया। इसमें कहा गया था कि जो भी सिपाही इस एक्ट के अधीन भरती हुआ है, वह समुद्र पार लड़ने के लिए जाने से इंकार नहीं कर सकता, जबकि हिन्दू धर्म के अनुसार समुद्र पार जाना वर्जित था। जो सिपाही एंग्लो-अफ़ग़ान युद्ध के बाद

स्वदेश लौटे थे, हिन्दू समाज ने उनको उनकी जाति से निकाल बाहर कर दिया था।

1857 तक जन-उभार के लिए अत्यंत उत्तेजक सामग्री जमा हो चुकी थी, ज़रूरत बस एक चिंगारी की थी, और चिंगारी मिली चिकने कारतूसों से। 1856 में अंग्रेज़ों की ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिन्दुस्तानी सेना को नई 'एनफ़ील्ड रायफ़ल' दी। इसके कारतूसों पर चिकने काग़ज़ का खोल था, जिसके सिरे को रायफ़ल में कारतूस भरने से पहले दाँतों से काटना पड़ता था। जनवरी 1857 में बंगाल सेना में एक अफ़वाह फैल गई कि चिकने कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी थी। ख़बर फैलती गई और उनके धर्म पर इस हमले के बदले की भावना सबसे ऊपर हो गई और फिर यह 1857 के विद्रोह के पहले शहीद मंगल पांडे की ऐतिहासिक कार्रवाई में विस्फोट के रूप में सामने आ गई।

1857 की फ़रवरी में बैरकपुर की उन्नीसवीं नेटिव इंफ़ेंट्री ने नए कारतूसों को इस्तेमाल करने से मना कर दिया। अफ़सरों ने इसे हुक्मउदूली की कार्रवाई माना और रेजीमेंट को सज़ा देने और इसे भंग करने का फ़ैसला किया। इस बात का पता उन्नीसवीं और चौंतीसवीं हिन्दुस्तानी रेजीमेंटों के सिपाहियों को चल गया। उनका असंतोष विस्फोट के बिन्दु पर पहुँच गया और 29 मार्च 1857 को चौंतीसवीं रेजीमेंट के एक ब्राह्मण सिपाही मंगल पांडे ने परेड लाइन से बाहर कूद कर ब्रिटिश सहायक पर हमला कर उसे मार दिया। एक ब्रिटिश अफ़सर सार्जेंट मेजर हुसोन ने रेजीमेंट के सिपाहियों से मंगल पांडे को गिरफ़्तार करने को कहा, पर कोई हिला तक नहीं। अंततः मंगल पांडे को गिरफ़्तार कर मुक़दमा चलाया गया और 18 अप्रैल, 1857 को फाँसी पर चढ़ाने का हुक्म सुनाया गया। उन्नीसवीं और चौंतीसवीं दोनों रेजीमेंटें भंग कर दी गईं। घटना ने विद्रोह का रूप ले लिया। मई 1857 को मेरठ में तीसरी घुड़सवार रेजीमेंट के 85 सिपाहियों ने चिकने कारतूसों का इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया। उनका कोर्ट मार्शल किया गया और 8 से 10 साल कड़ी मेहनत की सज़ा सुनाई गई। फिर उन लोगों को परेड में पेश किया गया, उनकी वर्दियाँ उतारी गईं और मेरठ की पूरी गैरिसन के सामने उनको खुलेआम हथकड़ियाँ डालकर रवाना कर दिया गया।

लेकिन इस घटना ने उनको डराया नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी सैनिकों के संकल्प को और मज़बूत कर दिया। 10 मई, 1857 की भोर "हर हर महादेव" और "मारो फ़िरंगी को" के ज़ोरदार नारों के साथ हुई। सिपाहियों ने अपने अफ़सरों पर गोलियाँ चलाईं, जेल को तोड़कर अपने संगी-साथी सिपाहियों को रिहा कराया, यूरोपीय पुरुषों-स्त्रियों को मार डाला, उनके घरों को मिट्टी में मिला दिया और उसी रात दिल्ली के लिए कूच कर गए।

मेरठ से हिन्दुस्तानी घुड़सवार सेना ''बहादुरशाह की जय'' के नारे लगाते हुए 11 मई, 1857 की सुबह दिल्ली पहुँची। चूँकि दिल्ली में यूरोपीय फ़ौज मौजूद नहीं थीं, इसलिए इसको तीन दिन के भीतर अंग्रेज़ों से आज़ाद करा लिया गया और बहादुरशाह द्वितीय को हिन्दुस्तान का शहंशाह घोषित कर दिया गया। उनका परचम एक बार फिर सार्वजनिक इमारतों पर शान के साथ लहराने लगा। उन्होंने विद्रोह का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और वह प्रेरणा के स्रोत और प्रतीक बन गए।

अंग्रेज़ों का क़त्लेआम हुआ। इसके बाद विद्रोह कानपुर, अवध, इलाहाबाद, बनारस और झाँसी जैसी दूसरी जगहों पर भी फैल गया। विद्रोह के महत्त्वपूर्ण नेता थे—रानी लक्ष्मीबाई, जिनको आमतौर पर झाँसी की रानी के नाम से जाना जाता है, ताँत्या टोपे, नानासाहेब, कुँवर सिंह, बेगम हज़रत महल और बेगम ज़ीनत महल। आइए, अब गोआ लौटते हैं, वहाँ 15 साल के भीतर ही पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ सिपाही विद्रोह भड़क उठा था। गोआवासियों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण नीतियों के चलते अपने औपनिवेशिक मालिकों के ख़िलाफ़ वे बग़ावत पर उतारू हो गए थे। गोआ में सैनिक विद्रोह के पीछे प्रमुख कारण ये थे—सेना में गोआवासियों की पदोन्नतियाँ न होना, पुर्तगाली सिपाहियों के मुक़ाबले गोआवासी सिपाहियों को वेतनों के मामले में भेदभाव की नीति और समुद्रपार तैनाती। पुर्तगाली अफ़सरों के रखरखाव और ऐशोआराम पर पुर्तगाली सरकार भारी पैसा ख़र्च करती थी। पुर्तगाली सिपाहियों को तरक़्क़ी और दूसरे लाभ मिलते थे, जबकि गोआवासी सिपाही सेना में तरक़्क़ी पाने की सोच भी नहीं सकते थे। यह विशेषाधिकार केवल पुर्तगाली सिपाहियों को प्राप्त था। दरअसल उनको पुर्तगाली अफ़सरों के घरों में बरतन साफ़ करने पड़ते और उनके बच्चों की देखभाल करनी होती थी।

गोआवासी सेना की संख्या कम करने के लिए पुर्तगाली सरकार ने 1869 में एक आदेश जारी किया, क्योंकि उसको लगता था कि इससे उसके आर्थिक संसाधनों की बर्बादी होती है। उसने गोआवासी सिपाहियों की संख्या 6250 से घटाकर 2694 कर दी। ज़्यादातर गोआवासी सिपाही पुर्तगाली अफ़सरों के अधीन थे कुल मिलाकर वहाँ सेना की चार बटालियनें थीं—एक मार्गो में, एक पोंडा में, एक मापुसा में और अन्य बिचोलिन में। औपनिवेशिक सरकार द्वारा इनमें से कुछ को भंग किए जाने से गोआवासी सिपाही बेरोज़गार हो गए। आदेश में यह भी कहा था कि गोआवासी सिपाहियों को काम पर समुद्रपार मोज़ांबिक भेजा जाएगा, जबकि रूढ़िवादी हिन्दुओं के लिए समुद्रपार की यात्रा धार्मिक रूप से वर्जित थी।

उपरोक्त तमाम कारणों से गोआवासी सिपाहियों ने वोलवोई और मार्सेल से पुर्तगाली सरकार के ख़िलाफ़ बग़ावत का झंडा उठा लिया, परंतु वे सफल नहीं हो सके : लिस्बन से पुर्तगाली सरकार ने तोपवाली नावों को बुला लिया और विद्रोह ठंडा पड़ गया। गोआवासी सेना की चार इकाइयों और एक गैरिसन का पुनर्गठन किया गया। इसी तरह से 14 सितंबर, 1895 में पुर्तगाली पुलिस विभाग के गोआवासी सिपाहियों ने सरकार के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी। कारण यह था कि उनको अफ़्रीकी महाद्वीप में स्थाई रूप से तैनात किया जा रहा था। उपरोक्त उन्हीं कारणों से वे विदेश नहीं जा सकते थे। दादा राणे अडवायकर के नेतृत्व में राणे विद्रोहियों ने उनका साथ दिया था।

पुर्तगाली सरकार ने पुलिस के गोआवासी सिपाहियों की माँगें मान लीं। विद्रोह का वर्णन गोआ के 'मांडो' नामक लोकप्रिय गीत और नृत्य की इन कोंकणी पंक्तियों में इस प्रकार किया गया है :

एका सेतेब्राचे राती
प्रोजेंट ज़ाली रे बोबात्ती
पोंजेक वाज़ाउनं कोर्नेती
सालदाद संदुनुन अपलेओ कापोती
कमांडेंट बाबडो मारता रे बोबाती
सोलदाद-रानेन एकुतेन ज़ाउन
कालाफुरची तारी काढ्नु
मारसीलांट ज़ेवान कोरून
कोलवालचे कोपेल वेलान चोरुन
फ़ज़ेंदा दार फोदुन
मेंगू बोरेइक वेलो दोरून।

दूसरा मांडो है :

सागलिया संसारक खाबार
फाक्ले घेउन इएटा महुन वापोर
नाक्ति तुमकान कद्दिनहान रे देरू
सांकले सान कोरुरुआ महता घेररू
बारी नैन रे मेक संवसारा खाबार
कंबांइंड आसा तातुन कमांनडांती चोरू

हम रिवोल्ट ज़नचिआकू
सांगलो गुनेअवु मिनिसताचो
इनफोरमासान दाछुन रे फालसु
अपाउन हडालो डाम अफोंसाकु
बारेम भोगाका सइबा गोमेस डा लोकाकु
बोंगु बोंगुन टी बाबद्देआचेन
विस्कोंडे द' अपलो गवरनाडोराचेन
तानेन अपलो फुद्दर चिंतन
रातिऐंट गेलो रे पोल्लुन,
सगलेआ संवासारा साइबा कोसोलो अबुजु
ताजिया फ़टलियन पोल्लुन गेलो अंद्रादे जुइज़।

संदर्भ

1. बिपिन चंद्रा, *इंडियाज़ स्ट्रगल फ़ॉर फ़्रीडम*
2. कामत प्रतिमा, *फ़रार फ़ार*
3. दलाल सुहास, *बंदनचाओ पेटिलो उज़ो*
4. *गोआई मांडो*

प्रथम स्वाधीनता संग्राम

मलयाळम् की दो मौलिक रचनाएँ *

एम. लीलावती

मलयाळम् में केवल दो प्रमुख रचनाएँ हैं, जिनका प्रेरणा स्रोत प्रथम स्वतंत्रता संग्राम है। इनमें से एक है विख्यात इतिहासकार दिवंगत श्रीधर के. एम. पणिक्कर द्वारा लिखी *झाँसी की रानी की कहानी;* दूसरी एक कथात्मक रचना है, जिसे भारतीय प्रशासनिक सेवा के एक अधिकारी दिवंगत मलयात्तूर रामकृष्णन ने लिखा था।

पणिक्कर की रचना (1957) का पहला भाग रानी की आत्मकथा के रूप में, और दूसरा भाग उनकी वफ़ादार सेविका सुंदर बाई द्वारा लिखित जीवनी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने इतिहास को काल्पनिक कथाओं से सजाने का प्रयास नहीं किया है। चूँकि वास्तविक कथा अपने-आपमें नाटकीय स्थितियों, उत्कट प्रयासों और भावुक घटनाओं से इतनी परिपूर्ण थी कि इसमें घटनाओं को नाटकीयता देने अथवा कहानियाँ गढ़ने की कोई ज़रूरत ही नहीं थी। इतिहास के प्रति निष्ठावान और समुचित संवेदनशीलता के साथ एक कल्पनाशील लेखक के रूप में रानी का चित्रण करते हुए पणिक्कर एक ऐसी रचना सामने लाए हैं, जो पाठकों की अनेक पीढ़ियों की आत्माओं को झकझोर सकती है। रानी के व्यक्तित्व में एक ऐसा सम्मोहक गुण था, जिसके सामने उनके शत्रु तक झुके थे और सच्ची श्रद्धांजलि दी थी। सर ह्यूग का यह प्रसिद्ध कथन है, ''भारतीय ग़दर ने सिर्फ़ एक मर्द पैदा किया है और वह एक औरत है।'' इस प्रेरणादायक सर्वोच्च बलिदान के योग्य उनके साहस, आत्मविश्वास और सम्मान की उनकी भावना ने बनाया था और किसी भी इतिहासकार ने उनके व्यक्तित्व को घृणित रूप से विकृत करने का प्रयास नहीं किया। इसका एकमात्र अपवाद था जे. एन. एच. मेक्लेन, जिसने रानी का चित्रण एक परपीड़क कायर के तौर पर किया था। पणिक्कर द्वारा लिखे उपन्यास में

* अंग्रेज़ी आलेख के अनुवादक हैं नरेन्द्र तोमर।

आपको एक लड़की का क्रमिक विकास मिलता है—एक लड़की से पत्नी, एक माँ, एक सामान्य महिला, एक सिपाही, एक नेता, एक शासक, एक प्रजा हितैषी संरक्षक और अंततः एक महान योद्धा, जिसने साहस के साथ लड़ाई लड़ी और मृत्यु को निर्भीक समभाव के साथ गले लगाया। प्रत्यक्षदर्शी वफ़ादार सेविका द्वारा वर्णित अंतिम दृश्य एक उत्कृष्ट साहित्यिक वृत्तांत है, जिसमें चित्रण किया गया है कि एक अविश्वसनीय शौर्यपूर्ण लड़ाई में घातक रूप से घायल होने के बाद वह किस तरह से रणभूमि से निकली थीं, किस प्रकार से उन्होंने अपनी चिता को स्वयं अग्नि दी और अपनी इच्छा पूर्ण करते हुए कि मृत्यु होने की स्थिति में उनके शरीर को शत्रु छू न सकें, अपूर्व साहस के साथ अग्नि को गले लगाया था। अंतिम मुक़ाबले में रानी पुरुष योद्धा के छद्म-वेश में थीं। शत्रु उनको पहचान नहीं पाए थे।

स्वतंत्रता, सम्मान और न्यायनिष्ठा के नाम पर यह कृति उस एक सबसे उदात्त आत्मा के अपूर्व बलिदान के प्रति इतिहासकार की श्रद्धांजलि है।

अमृत की खोज में (1857)

मलयात्तूर रामकृष्णन की रचना *अमृत की खोज* का शीर्षक एक रूपक अलंकार अमृत/स्वतंत्रता पर आधारित है। यह रूपक कुमारन आशान द्वारा लिखित एक कविता में मिलता है :

स्वतंत्रता ही अमृत है
स्वयं में जीवन है स्वतंत्रता
दासता के स्थान पर
सूरमा पसंद करते हैं मृत्यु।

इस कथात्मक रचना का विषय प्रथम स्वतंत्रता संग्राम है, जिसके महत्त्व को अंग्रेज़ों ने कम करके 'सिपाही विद्रोह' कहा था।

उपन्यास में इतिहास की तमाम घटनाओं को स्थान दिया गया है, परंतु यह ऐतिहासिक घटनाओं का वृत्तांत मात्र होने से कहीं दूर है। काल्पनिक चरित्रों और स्थितियों को सम्मिलित करके इसमें वास्तविक इतिहास को एक कथा के रूप में विकसित कर दिया गया है। उपन्यास की मुख्य प्रेम कथा और इसका बीभत्स दु:खद अंत उन दिनों में हुआ होगा, लेकिन इस घटना के बारे में कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता है। इसके प्रमुख चरित्र उमाशंकर और उसकी पत्नी गायत्री गहन संघर्ष के बीच ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के निकटतम सहयोगी हैं।

उपन्यास की कहानी का प्रारंभ लॉर्ड डलहौज़ी के उत्तराधिकारी के तौर पर गवर्नर जनरल के रूप में लॉर्ड केनिंग के आने के काल से होता है। उमाशंकर को वह भारत आने से पहले से जानते थे, जो झाँसी की रानी की ओर से उनके मामले में 'चूक के सिद्धांत' को लागू करने के विरुद्ध सर्वोच्च प्राधिकारियों के समक्ष अपील करने इंग्लैण्ड गए थे। यह सिद्धांत लॉर्ड डलहौज़ी के दिमाग़ की उपज था। हिन्दू क़ानून के अनुसार गोद लेना पूरी तरह से वैधानिक था। जिन राज्यों के शासकों के कोई संतान नहीं थी, उनको सीधे-सीधे ब्रिटिश राज में मिला लेना उनका अधिहरण मात्र था, जो न्यायसंगत केवल ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' के सिद्धांत के चलते था। उमाशंकर ने रानी के वाद की पैरवी पूरी तरह से ठीक की थी, परंतु अधिकारियों ने उनकी एक न सुनी। सर्वोच्च अधिकारियों में से अनेक, जिनमें लॉर्ड केनिंग भी थे, ने उनकी बुद्धिमत्ता, उनके तर्कों की प्रखरता और अंग्रेज़ी भाषा पर उनके अधिकार और उनकी हाज़िर-जवाबी की प्रशंसा की थी।

उमाशंकर अवध के रुहेलखंड के एक छोटे से राज्य के राजकुमार थे। जिस समय अवध को अंग्रेज़ी राज में मिलाया गया, उमाशंकर इंग्लैण्ड में थे (उनकी उच्च शिक्षा वहीं हुई थी)। अवध के नवाब वाज़िद अली को गद्दी से उतार दिया गया और निर्वासित कर दिया गया। डलहौज़ी ने आठ राज्यों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और भूतपूर्व पेशवा बालाजी राव के दत्तक पुत्र नाना साहेब की पेन्शन जारी रखने से इंकार कर दिया। उमाशंकर सच्चे राष्ट्रवादी थे और दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ एकजुट होकर उठ खड़ा होना चाहिए, गोकि व्यक्तिगत रूप से वह ब्रिटेन में अपने अच्छे दोस्तों की इज़्ज़त करते थे।

नरवार के राजा मानसिंह (एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व) अपनी बेटी गायत्री का विवाह उनके साथ करना चाहते थे। लेकिन उमाशंकर के इंग्लैण्ड रवाना होने से पहले केवल सगाई की रस्म ही हो पाई थी। मानसिंह 'सागर पार करने के ख़िलाफ़' थे। उनके लौटने से पूर्व एक दुःखद घटना घटती है। नरवार में जियाजी सिंधिया का आगमन होता है। मानसिंह उससे इसलिए नफ़रत करते थे कि सत्ता के पदानुक्रम में उसे अंग्रेज़ों द्वारा प्रधानता मिली हुई थी। नशे की हालत में वह ज़नाना में घुस गया और गायत्री पर हावी हो गया और इस तरह उसने पति के तौर पर अस्वीकार किए जाने का बदला ले लिया। इस घटना से इतना झटका लगा कि गायत्री का मानसिक संतुलन लगभग जाता रहा, लेकिन उमाशंकर इतना उदात्त थे कि गायत्री द्वारा घटना बता दिए जाने पर भी उन्होंने उससे विवाह कर लिया। मानसिंह, जो उसकी रक्षा

नहीं कर पाया था, की इजाज़त के बिना ही वह गायत्री को अपने साथ ले गए और झाँसी की रानी के पास सहायता प्राप्त करने पहुँचे। विवाह रानी के महल में मानसिंह की उपस्थिति में हुआ, जिसने उमाशंकर की उदात्तता के लिए उसकी प्रशंसा की।

ब्रिटिश सेना में भारतीय सैनिकों द्वारा विद्रोह के लिए उत्तेजित होने का तात्कालिक कारण नए प्रकार की एनफ़ील्ड राइफ़लों के लिए दिए गए चिकने कारतूस थे। अंदर भरे पाउडर को सूखा रखने के लिए कारतूसों के ऊपर काग़ज़ के खोल को जानवरों की चर्बी से चिकना किया गया था। कारतूस को डालने से पहले काग़ज़ के खोल को दाँत से काटना पड़ता था। एक कहानी फैल रही थी कि चिकनाई हिन्दुओं के लिए पवित्र गायों और मुसलमानों के लिए गंदे सूअर की चर्बी से बनी है। वर्जना पर इतना प्रबल विश्वास था कि इसे कम करके आँका नहीं जा सकता था।

उपन्यास में सिपाहियों के बीच की बातचीत और बहसों से उस पृष्ठभूमि का पता चलता है, जिसके चलते उन्हें विदेशी की नौकरी करनी पड़ी थी। आम लोगों के बीच एक कारण ग़रीबी और बेरोज़गारी था। भारतीय ज़मींदार और सामंत निचले वर्ग के लोगों का शोषण कर रहे थे। विदेशी ने उन्हें रोज़गार अर्थात गुज़र-बसर का सम्मानित साधन दिया था। एक अन्य कारण था हिन्दुओं के बीच का जातिवाद, जिसने लोगों के बड़े हिस्से को हाशिए पर फेंक दिया था। विदेशी सबके साथ बराबरी का व्यवहार करते थे। ये हालात और आमलोगों में अपने मालिकों के प्रति जन्मजात वफ़ादारी की भावना के चलते ही सिपाहियों की अच्छी-ख़ासी संख्या विद्रोहियों के साथ जाने से झिझक रही थी।

उमाशंकर जानते थे कि देसी राजाओं में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण और प्रेरणा की कमी है। वे सब अँग्रेज़ों के समर्थक थे। पटियाला, जींद, ग्वालियर, हैदराबाद और अनेक अन्य रियासतों के शासक उनमें से ही थे। उमाशंकर न तो कोई आत्मकेन्द्रित थे और न ही विदेशियों के प्रति प्रतिष्ठावान, हालाँकि उनमें से अनेक सज्जन उनके मित्र थे। वह दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि अगर देसी रियासतों के प्रमुख एकजुट होकर प्रयास करें तो विदेशियों को आसानी से बाहर का रास्ता दिखाया जा सकता है, लेकिन उन्होंने महसूस किया कि यह एक दूर का स्वप्न है। उन्होंने उन नेताओं के साथ हाथ मिलाया, जो धार्मिक भेदभाव से ऊपर थे—कानपुर विद्रोह के नेता नाना साहेब, फ़ैज़ाबाद के मौलवी अज़ीमुल्ला, अवध और रुहेलखंड में विद्रोह की प्रमुख नेता झाँसी की रानी, अवध की बेग़म हज़रत महल, ताँत्या टोपे, नाना

साहेब के सेनापति बहादुर राजपूत कुँवर सिंह इत्यादि। उनके ससुर मानसिंह की केवल एक महत्त्वाकांक्षा थी : ग्वालियर के राजा को हटाना, जो अंग्रेज़ों का वफ़ादार था। उपन्यास में मंगल पांडे की कहानी का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनको कोर्ट मार्शल के बाद फाँसी दे दी गई थी। चौंतीसवीं नेटिव इंफ़ेंट्री में विद्रोह की आग इसी के चलते भड़की थी। उपन्यास के अनुसार, उनको कारतूस मामले ने उत्तेजित नहीं किया था। जिस लड़की से उनकी सगाई तय हो चुकी थी, उसके पिता को एक सूदख़ोर ने अंधा कर दिया था, क्योंकि वह समय के भीतर क़र्ज़ नहीं चुका पाया था; जबकि एक अंग्रेज़ अफ़सर के सामने पेश करने के लिए लड़की का अपहरण कर लिया गया था। लड़की ने आत्महत्या कर ली। मंगल पांडे क्रोध से लगभग पागल हो गया। परेड मैदान में उसने हंगामा खड़ा कर दिया और अनुशासन लागू करने आए अंग्रेज़ अफ़सर पर हमला कर दिया। पांडे ने अफ़सर को मारने की कोशिश की, पर उसे विफल कर दिया गया और पांडे द्वारा आत्महत्या करने का प्रयास भी सफल नहीं हुआ। उसको दबोच लिया गया और औपचारिक मुक़दमे के बाद फाँसी पर चढ़ा दिया गया। अनुशासन लागू करने के लिए जिस जमादार को पांडे को पहले ही निहत्था करके गिरफ़्तार कर लेना चाहिए था, उसने ऐसा नहीं किया। सिपाहियों की सहानुभूति पांडे के साथ थी, क्योंकि वे इस भावुकतापूर्ण विस्फोटक प्रतिक्रिया के पीछे के कारण को जानते थे।

मेरठ में कारतूस बाँटने के लिए कर्नल स्मिथ ने नब्बे सिपाहियों की विशेष परेड कराने का फ़ैसला किया। उन्होंने कारतूस लेने से इंकार कर दिया। स्मिथ ने गंदी से गंदी ज़ुबान में चेतावनी दी और साफ़-साफ़ शब्दों में ऐलान किया कि अगर वे दोबारा इंकार करते हैं, तो उनको तोपों के चारे में बदल दिया जाएगा। पचासी सिपाही इंकार पर जमे रहे। कोर्ट मार्शल के बाद उनको दस साल की बामशक़्क़त क़ैद की सज़ा सुनाई गई। हिन्दुस्तानी लुहारों को उनके पैरों में बेड़ियाँ डालने का हुक्म दिया गया (9 मई 1857)। सभी पचासी सिपाहियों की भारी बेड़ियों को एक लंबी ज़ंजीर से जोड़ दिया गया। पूरा अपमान करने के लिए उनको हुक्म दिया गया कि अपने जूतों को वे अपने सिरों पर लेकर चलें। उनमें एक वह पुराना सिपाही भी था, जिसने वफ़ादारी के साथ अंग्रेज़ों की चालीस साल तक सेवा की थी और जो अब रिटायर होने वाला था।

10 मई को रेजीमेंट के बाक़ी सिपाहियों ने प्रतिकार के रूप में इमारतों को आग लगा दी, रेजीमेंट के बारूदख़ाने को तबाह कर दिया और विद्रोहियों के साथ मिल गए। वे जेल की ओर बढ़े और बंदी सिपाहियों को रिहा कर दिया। ज़ंजीर और

बेड़ियों को काट डाला गया। अनेक गोरों और महिलाओं की हत्याएँ कर दी गईं। टेलीग्राफ़ लाइनों को काट दिया गया था, इसलिए अंग्रेज़ अफ़सर अपने मुख्यालय से संपर्क नहीं कर सके। 'दिल्ली चलो' के नारे लगाते विद्रोही दिल्ली की ओर बढ़े। उन्हें उम्मीद थी कि 'शहंशाह' उठ खड़ा होकर विद्रोह का नेतृत्व करेगा।

एक भविष्यवाणी चर्चा में थी कि पलासी की लड़ाई के सौ साल पूरे होने पर गोरों के राज से मुक्ति मिल जाएगी। सिपाहियों के बीच भविष्यवाणी को कुछ महत्त्वाकांक्षी शक्तियों द्वारा लुक-छिपकर फैलाया जा रहा था और संदेश के एक प्रतीक के तौर पर 'चपातियों' के रूप में पहुँचाया जा रहा था।

मंगल पांडे की घटना, और कारतूसों को लेने से इंकार करने के कारण पचासी सिपाहियों को अमानवीय ढंग से सज़ा दिए जाने के बाद उन्नीसवीं और चौंतीसवीं रेजीमेंट का विघटन—ये पर्याप्त कारण थे ग्वालियर में तैनात सिपाहियों के लिए इस अफ़वाह पर यक़ीन करने कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों को निहत्था किया जाने वाला है, और विद्रोह वहाँ भी शुरू हो गया। एक बहादुर अंग्रेज़ अफ़सर, जो उनके बीच यह समझाने आया था कि अफ़वाह झूठी है, मार दिया गया। अफ़सरों के बंगलों में आग लगा दी गई। अगले दिन कैप्टन निक्सन की रहनुमाई में वहाँ एक भारी पलटन आई, जिसमें केवल अंग्रेज़ और सिख सिपाही थे। घनघोर लड़ाई में ग्वालियर रेजीमेंट पूरी तरह से हार गई। असंख्य बंदियों को तोप के मुँह पर बाँधकर उड़ा दिया गया और बचे हज़ारों को फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

दिल्ली पहुँचने पर जब हज़ारों सिपाहियों ने एक आवाज़ से बहादुरशाह ज़फ़र से रहुमाई करने की ज़ोरदार माँग की तो वह पर्याप्त हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे। वे जन्मजात शायर थे और सम्मान तथा स्वतंत्रता की क़ीमत पर भी उनको लड़ाई से नफ़रत थी और शांति से प्यार था। लेकिन अपने किशोर पुत्र की ख़ातिर बेगम ज़ीनत महल महत्त्वाकांक्षी हो गई थीं और उन्होंने 'शहंशाह' बहादुरशाह ज़फ़र को विद्रोही सिपाहियों का नेतृत्व स्वीकार करने को राज़ी कर लिया।

कुछ रेजीमेंटों को भंग करने और पचासी सिपाहियों को अपमानजनक दंड देने तथा मंगल पांडे की घटना से उत्तेजित होकर अनेक स्थानों पर विद्रोह भड़क उठा। पाठकों को सिपाहियों की विद्रोही कार्रवाइयों की स्वतःस्फूर्त प्रकृति और नाटकीय घटनाचक्र का विश्वास दिलाने के लिए उपन्यास में मेरठ, कानपुर, दिल्ली, अमृतसर, आगरा, झाँसी और ग्वालियर की घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

कानपुर का नेतृत्व पेशवा के दत्तक पुत्र नाना साहेब ने सँभाला। एक गुप्तचर अधिकारी लेफ़्टिनेंट हडसन का विश्वास था कि ग्वालियर में सिपाहियों को राजा मानसिंह ने भड़काया था। उसे प्रखंड आयुक्त वाटकिंस की ओर से नरवार में मानसिंह के महल की तलाशी लेने का हुक्म मिला था। इसमें उसका कुछ निजी कार्यक्रम भी था—मानसिंह की अपार संपत्ति की लूट। उसने कुछ और अधिक किया। मानसिंह को गिरफ़्तार करने के बाद वह ज़नानख़ाने में घुसा, गायत्रीदेवी का अपहरण किया और उसे वाटकिंस को पेश किया जिसे हिन्दुस्तानी औरतों का ख़ास चस्का था। नशे की हालत में जब वह उसके पास पहुँचा उस बड़े कमरे में गायत्री देवी को एकमात्र हथियार, रानी विक्टोरिया की मूर्ति, मिला। उससे गायत्री देवी ने हडसन के सर पर वार किया और भाग निकली। उमाशंकर को जब हडसन के इस व्यवहार का पता लगा, गायत्री देवी को ढूँढ़ने के लिए उन्होंने गुप्तचरों को लगाया, पर कुछ नतीजा न निकला।

कानपुर में सिपाहियों ने किसी नेता के बग़ैर ही विद्रोह कर दिया। नानाजी पेशवा मन से अंग्रेज़ों के कट्टर दुश्मन थे, पर वह ज़ाहिर नहीं करते थे। जनरल व्हीलर को उनकी दोस्ती पर भारी भरोसा था। देसी घुड़सवार सेना ने नवाबगंज में ख़ज़ाना लूट लिया, जेल से क़ैदियों को रिहा कर लिया और शस्त्रागार की ओर बढ़े। पाँचवीं घुड़सवार सेना भी उनके साथ मिल गई। तिरेपनवीं घुड़सवार सेना ने प्रारंभ में हिचकिचाहट दिखाई। तोपख़ाने के साथ जनरल व्हीलर फ़ौरन ही परेड मैदान पर पहुँचा। डराने के लिए उसने तिरेपनवीं पैदल सेना के कुछ सिपाहियों को गोली मार दी। लेकिन नतीजा उल्टा निकला। बाक़ी तितर-बितर हो गए और उन्होंने विद्रोही साथियों के साथ जाने का फ़ैसला किया। इसी मोड़ पर नाना साहेब ने नेतृत्व सँभाल लिया। उमाशंकर ने ताँत्या टोपे को पूरा समर्थन देने का ऐलान कर दिया। आम रणनीति तैयार करने का काम सुयोग्य जनरल नाना साहेब ने किया। विद्रोहियों को यह दिखावा करना था कि वे दिल्ली कूच कर रहे हैं, पर उनको तैयार आकस्मिक आक्रमण के लिए किया गया। रणनीति सफल रही। गोरे अपनी खाइयों में वापस लौट गए।

महिलाओं और बच्चों तथा बचे-खुचे थोड़े से लोगों को बचाने के लिए जनरल व्हीलर को मजबूरी में हथियार डालने पड़े। नाना साहेब ने उनको सुरक्षित इलाहाबाद पहुँचाने का वचन दिया। उनको सतीचौरा के पास नदी पार कराने के लिए नावों में पर्याप्त रसद का प्रबंध कर दिया गया। कैप्टन मूर के नेतृत्व में सबके सब खाई से बाहर निकल आए। इस पूरे भरोसे के साथ कि शरणार्थी सुरक्षापूर्वक

इलाहाबाद पहुँच जाएँगे, जनरल व्हीलर ने अपने मुँह में रिवाल्वर रखकर गोली चला दी। जब वह नावों में चढ़ रहे थे, पास के मंदिर और झाड़ियों से बंदूक़ों की गोलियाँ बरसने लगीं। अचानक ही न जाने कहाँ से तलवारों के साथ कुछ सिपाही प्रकट हुए और गोलियों से बच गए लोगों को ख़त्म कर दिया। कुछ बची-खुची स्त्रियों और बच्चों को बंदी बनाकर पास की इमारत में ले जाया गया। इस भयंकर घटना ने नाना साहेब को हिलाकर रख दिया, जो इस विश्वासघात के स्रोत को समझ नहीं पाए।

उपन्यास में इस विश्वासघाती खलनायक का चित्रण किया गया है। इस बीभत्स हत्याकांड के पीछे वही संन्यासी था, जिसने नाना साहेब को विद्रोह का नेतृत्व करने की प्रेरणा दी थी। अपने को योगेश्वरम घोषित करने वाला यह व्यक्ति न केवल भारतीय राष्ट्रवाद अपितु हिन्दू कट्टरतावाद का भी प्रचारक था। वह मुसलमानों को अतीत का हमलावर मानता था और उनसे नफ़रत करता था। वह हिन्दू साम्राज्य की कल्पना करता था। पहले के जीवन का अता-पता किसी को नहीं था। उसका सह-अपराधी कमलानाथ एक ठग था। दोनों की गोपनीय बातों के बारे में पता ताँत्या टोपे ने लगाया। योगेश्वरम मराठा नेता और मराठा षड्यंत्र के मस्तिष्क नाना फड़नवीस का बेटा था। उसकी मृत्यु 1800 में हो चुकी थी। योगी का सह-अपराधी ठग 'फंदे से हत्या' करने में माहिर था। उसका हथियार एक मज़बूत डोर था। योगी उसको अपने साथ अपने विरोधियों को ख़त्म करने के लिए रखता था। उसकी कुटिल योजना समर्थ नेताओं को अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ उकसाने और जब वे जीत जाते, तब सिंहासन पर ख़ुद क़ब्ज़ा जमा लेने की थी। जब वह ताँत्या टोपे को निष्ठावान राष्ट्रवादी, फ़ैज़ाबाद के मौलवी अज़ीमुल्ला के साथ गँठजोड़ करने से रोक नहीं पाया तो उसने ठग को लगाकर ताँत्या टोपे को चुप कराने का फ़ैसला किया। लेकिन ठग सफल नहीं हो सका, क्योंकि ताँत्या टोपे दक्ष और फुर्तीले थे और आसानी से शिकार बनने वाले नहीं थे। कमलनाथ के साथ सख़्ती से पूछताछ करने पर उनको योगी के सारे रहस्य मालूम पड़ गए। सतीचौरा हत्याकांड उसी की साज़िश थी। सतीचौरा के अत्याचारों के बाद योगी और ठग दोनों जंगलों में जाकर छिप गए। बीबीगढ़ नामक स्थान पर उन्होंने निरीह स्त्रियों और बच्चों की बेरहमी से हत्या की।

कानपुर में पेशवा की जीत थोड़े समय के लिए थी। ब्रिगेडियर जनरल हेनरी हैवलॉक एक बड़ी पलटन के साथ कानपुर के लिए रवाना हो चुका था। एक और पलटन के साथ कर्नल जेम्स नील पंजाब से चल पड़ा था।

योगी के विश्वासघात का चरम हैवलॉक के साथ उसकी मुलाक़ात और उसे यह बताने के साथ हुआ कि दोनों हत्याकांडों का आदेश नाना साहेब द्वारा दिया गया था। उसने यह 'स्वीकार' किया कि प्रारंभ में उसकी सहानुभूति विद्रोहियों से थी, लेकिन 'दो अत्याचारों' के बाद नाना साहेब के साथ उसके संबंध बदल गए। उसने अंग्रेज़ों की सहायता करने का वादा किया और नाना साहेब की रणनीतियों तथा गुप्त सैनिक सूचनाओं को प्रकट कर उसकी काफ़ी मदद की। उसने नदी पार करने के गुप्त स्थानों की जानकारी दी और नाना साहेब के सैन्य-संरचना के बाएँ बाजू पर हमला किया, जो अर्धचंद्र के आकार में था। योजना के अनुसार किया गया हमला इतना अचानक हुआ कि हिन्दुस्तानी सिपाही सही से बचाव भी नहीं कर पाए और बिखर गए। उस समय तक नेतृत्व सँभालने और जीत का श्रेय लेने भी वहाँ जनरल नील पहुँच गया।

लेफ़्टिनेंट हडसन, हैवलॉक के लिए यह हुक्म लेकर आया था कि वह कमान जनरल नील को सौंप दे। योगी हडसन से मिला और अंग्रेज़ों के सच्चे दोस्त का नाटक किया। पर उसे इतना झटका लगा जो जीवन भर नहीं लगा था : हडसन ने उसको गिरफ़्तार करने का हुक्म दिया और कमलनाथ, जो पहले ही गिरफ़्तार हो चुका था, ने उसकी और उसके इरादों की असलियत बता दी।

'सतीचौरा' में बदले की भयंकर और कहीं अधिक अमानवीय कार्रवाई हुई। बंदी सिपाहियों द्वारा क़त्ल हुई महिलाओं और बच्चों के ख़ून से सने फ़र्श को जीभ से चटवाकर साफ़ करवाया गया। प्रत्येक को एक वर्ग फ़ुट फ़र्श ना-नुकुर किए बिना साफ़ करना था और ऊपर से उन पर ख़ास तरह के कोड़े बरसाए जा रहे थे, जिनके सिरों पर लोहे की तेज़ कीलें लगीं थीं। ख़ून को चाटकर साफ़ करने के बाद हरेक़ क़ैदी को अपनी क़ब्र खोदने को मजबूर किया गया और फिर उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया गया। जिन बंदियों ने क़त्लेआम में कोई हिस्सा नहीं लिया था, उनको भी सज़ा भुगतनी पड़ गई। कुछ सिपाहियों ने मौत को साहस के साथ 'जय भारत' कहते हुए गले लगाया।

उपन्यास में इस प्रकार की त्रासद घटनाओं का बहुत उत्कृष्ट वर्णन किया गया है, जो इसे प्रभावपूर्ण बनाता है।

दिल्ली की विस्फोटक स्थिति को सँभालने के लिए ब्रिगेडियर जॉन निकलसन को पंजाब से चलने का हुक्म दिया गया था। उसके मानसिक और शारीरिक कौशल के साथ-साथ उसकी दानवी क्रूरता का कोई जवाब नहीं था। उसकी नज़र में फाँसी सज़ा देने का बहुत नर्म तरीक़ा था। वह खाल उतारकर धीरे-धीरे मारने में यक़ीन

रखता था। पंजाब से दिल्ली के रास्ते में इस तरीक़े का इस्तेमाल उसने बेक़सूर गाँव वालों पर किया। यह परपीड़क एक अन्य उपाय का भी इस्तेमाल करता था और वह था धारदार बल्लम से चीरना। ऐसे क्रूरतापूर्ण तरीक़े का इस्तेमाल बाद के काल में जालियाँवाला बाग़ में कदाचित जनरल डायर ने किया था।

उस समय दिल्ली में दो हज़ार गोरों के ख़िलाफ़ चालीस हज़ार से अधिक हिन्दुस्तानी सैनिक थे। निकलसन के लिए यह जीवन-मरण की लड़ाई थी।

विद्रोहियों के मनोबल पर असरदार नेतृत्व की कमी का असर पड़ रहा था। बहादुरशाह बहुत बुजुर्ग थे और उनके बेटा और पोता कायर थे। जिन बेगम ज़ीनत महल ने बहादुरशाह को कूद पड़ने को उकसाया था, वह आत्मसमर्पण की शर्तों के बारे में सोचने लगी थीं। लेफ़्टिनेंट हडसन और जनरल वर्डस्मिथ की रणनीति, और सर्वोपरि. साहस तथा दृढ़ता ने गोरे सिपाहियों के मनोबल को लौटा दिया। अंतिम जीत उन्हीं की हुई। (उपन्यास में दिल्ली की दिन-प्रतिदिन की लड़ाइयों और अंततः हिन्दुस्तानी सिपाहियों की हार का वर्णन सतही है। प्रस्तुत की गई तस्वीर धुँधली-सी है।)

बेगम ज़ीनत महल ने अंग्रेज़ों के एक प्रशंसक रईस और पेशे से 'पेन्शन अदा करनेवाले' मिथुनलाल के ज़रिए एक संदेश भेजा, जिसमें हडसन से मिलने की इच्छा की गई थी। हडसन एक हिन्दुस्तानी व्यापारी का स्वाँग करके मिथुनलाल के साथ महल गया। महल उजाड़ लग रहा था। बहादुरशाह और उनका परिवार महल छोड़कर जा चुका था। हडसन ने घोड़े पर उनका पीछा किया और पाया कि शाही ख़ानदान की रक्षा के लिए एक भीड़ जमा है। हडसन ने उनका पीछा करने के लिए जामा मस्जिद में टिके एक घुड़सवार दस्ते को लगाया था। जब वह दस्ता आ गया, तब हडसन ने भीड़ को एक संदेश भेज कर कहा कि यदि भगोड़े आत्म-समर्पण कर देते हैं तो उनकी रक्षा की जाएगी। बादशाह ने ख़ुद को भाग्य के हवाले कर दिया। हडसन ने अपना वचन नहीं निभाया, बंदी शहज़ादों को मार दिया गया।

झाँसी में राजनीतिक एजेंट कैप्टन अलेक्ज़ेंडर शैने था। वह रानी का विरोधी नहीं था और रानी उसकी बहुत इज़्ज़त करती थीं। रानी ने उसको साफ़ बता दिया था कि राज्य का विलय और उनकी अपील का रद्द किया जाना अनुचित और ग़ैरक़ानूनी है और अपने अधिकार की रक्षा में लड़ने से वह हिचकेंगी नहीं। लेकिन उन्होंने अपने सिपाहियों को विद्रोह के लिए उकसाया नहीं था और उसको बता दिया था कि उनका ऐसा कोई इरादा नहीं। उनके साथ उमाशंकर की मुलाक़ात को हडसन और गुप्तचर अधिकारी द्वारा साज़िश की शुरुआत के तौर पर देखा गया। शैने

ने हडसन की ख़ुफ़िया रिपोर्ट को अनदेखा किया। लेकिन ग्वालियर की ही तरह यहाँ भी सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और शैने समेत तमाम गोरे अफ़सरों को मार दिया। रानी को भारी व्यथा हुई। लेकिन जैसा कि उनसे पहले कहा गया था, उन्होंने नाना साहेब का अनुसरण किया और समय आने पर विद्रोहियों का नेतृत्व किया।

वाटकिंस की गिरफ़्त से बच निकलकर भी गायत्री नरवार नहीं पहुँच पाई। वहाँ दूसरे भेड़िए भी थे। मिठौली पहुँचने पर उसकी हालत बेहद दयनीय थी। उसके बदन पर चोट के निशान थे और मानसिक रूप से भी वह सामान्य नहीं थी। उसे याद नहीं था कि उसके गर्भ को क्या हुआ। गर्भपात, या कि उसे उसने ख़ुद ख़त्म कर दिया? मिठौली का राजा लोनी सिंह मानसिंह का मित्र था। उसने गायत्री की थोड़े दिन तो रक्षा की, पर चूँकि वह स्वयं विद्रोहियों के साथ था, अतः उसने सोचा कि गायत्री के लिए महल सुरक्षित स्थान नहीं है। कैप्टन रोलटन के ज़रिए उसे लखनऊ के एक डॉक्टर के घर भेजा गया। डॉक्टर के जो बस में था, उसने वह किया। उसके बारे में उमाशंकर को सूचित किया गया। उसकी मानसिक स्थिति ऐसी थी कि कुछ भी हो सकता था और जो सबसे बुरा हो सकता था, हुआ। उमाशंकर के वहाँ पहुँचने से पहले ही गायत्री ने आत्महत्या कर ली।

वाटकिंस के निवास से बच निकलने के बाद जिन हालात में वह रही, उसके बारे में अस्पष्टता कहानी के ढाँचे को बिखरा देती है और उसके सौन्दर्यबोध पर प्रतिकूल असर डालती है।

व्यक्तिगत त्रासदी ने उमाशंकर पर गहरा असर डाला। प्रतिशोध के विचार ने उसे और उसके सहायक रियास को दिल्ली पहुँचा दिया। मिथुनलाल उमाशंकर से परिचित था और उनका मेज़बान बनने पर ख़ुश था। लेकिन पेचिश के हमले से वह बिस्तर पर पड़ गया। उसके ठीक होने पर जब उमाशंकर ने उसका महल छोड़ा तो उससे भगवान ने बदला ले लिया।

मिथुनलाल को हडसन से अपनी दोस्ती पर नाज़ था। वह सोचता था कि उसके चलते वह और उसकी अपार संपदा सुरक्षित बनी रहेगी। लेकिन उसकी सेवाओं का इस्तेमाल करने के बाद हडसन उसके ख़िलाफ़ हो गया। हडसन को जब यह पता चला कि गवर्नर जनरल उससे नाराज़ है कि उच्च अधिकारियों से स्वीकृति लिए बिना ही उसने कुछ प्रमुख हिन्दुस्तानियों को अपनी हिरासत में रखा हुआ है, तो उसने ज़िंदा सबूतों को ख़त्म करने का फ़ैसला किया। उसकी हिरासत में मानसिंह, योगी और कमलनाथ जैसे लोग थे। उसने उनको जान से मारने का निर्णय किया। कमलनाथ को अपने उपदेशक के गले में फाँसी का फंदा लगाने को मजबूर

किया गया। काम तमाम हो जाने के बाद उसकी पिस्तौल ने ठग को ख़त्म कर दिया। अब मानसिंह की बारी थी। गिड़गिड़ाते हुए उसने अपनी जान की भीख माँगी और इसके बदले अपने विशाल गुप्त ख़ज़ाने को देने का प्रस्ताव रखा। हडसन ने अपने काले कारनामों के ज़िन्दा सबूत को ख़त्म करने के काम को कुछ दिनों के लिए स्थगित करना तय किया। दिल्ली की जीत के ब्राद वह अपना एक अन्य निजी कार्यक्रम पूरा करना चाहता था। उसने मानसिंह को गुप्त जेल से दिल्ली लाने का प्रबंध किया था। उसके आने में कुछ देरी हुई। उसने कैप्टन स्मिथ पर भरोसा किया, जिसने मानसिंह के ख़ज़ाने को लूटने में सहयोगी बनने और मानसिंह को अपनी हिरासत में सुरक्षित रखने की हामी भरी थी। इससे पहले कि मिथुनलाल को हडसन की योजना की भनक लगे, हडसन अचानक ही उसके निवास पर जा धमका और उसके सोना तथा हीरे-जवाहरात के बहुमूल्य संग्रह को ले जाने का प्रयास किया।

लेकिन अपने फ़ाटक पर एक सिपाही देखते ही मिथुनलाल को ख़तरे की भनक लग गई, मानो उसे घर में क़ैद कर लिया गया हो। यह मानते हुए कि उसकी होशियारी काम आएगी, उसने उमाशंकर से मदद माँगी। और इसने काम किया। बीमारी के बाद उमाशंकर शारीरिक रूप से बहुत कमज़ोर हो गया था, लेकिन दिमाग़ ने तेज़ी से काम किया। गायत्री की आत्मा की शांति के लिए बदला लेने के इस अवसर को उसने भगवान का भेजा हुआ माना और अवसर को थाम लिया। हडसन को तहख़ाने ले जाया गया, जहाँ मिथुनलाल ने अपना ख़ज़ाना छिपा रखा था। वहाँ उमाशंकर ने उसकी कुल्हाड़ी मारकर हत्या कर दी-अमानुषिक लंपट इसी अंत के लायक़ था।

मानसिंह को वर्ड स्मिथ के पास ले आया गया था, पर जब वह बुरी तरह से नशे की हालत में था, मानसिंह भाग निकला। नरवार पहुँचकर उसने एक छोटी-सी फ़ौज जमा की। अंग्रेज़ आकाओं के विश्वास में आने के लिए वह बुरी तरह से कोई चाल चलने की जुगत कर रहा था।

'करो या मरो' की अंतिम कार्रवाई के लिए उमाशंकर नाना साहेब और ताँत्या टोपे के साथ हो गए। जैसे ही उनको ख़बर मिली कि रानी विद्रोहियों की कमान सँभल रही हैं, वे तत्काल झाँसी चल पड़े। हालाँकि शुरुआत में विद्रोह की साज़िश उन्होंने नहीं रची थी, पर कलकत्ता में अंग्रेज़ अफ़सर ने शैने की हत्या के लिए उनको दोषी ठहराया और उनके ख़िलाफ़ 'कार्रवाई' प्रारंभ कर दी। उपन्यास में रानी की साहसिक लड़ाई और वीरोचित मृत्यु का वर्णन एक प्रेरणादायक कथा है। अपने छद्मवेश में वह गोरे सिपाहियों को दुःसाहसी युवा योद्धा लगती थीं। उपन्यास में इस

दृश्य का उत्कृष्ट शैली में चित्रण किया गया है, जिसमें पीठ पर गोली लगने के बाद उनका साफ़ा उड़ जाता है और उनके बाल 'काले झरने की तरह' खुल जाते हैं।

कहानी का अंत अंतिम विश्वासघात के साथ होता है, जिसके पीछे मानसिंह का हाथ होता है। उमाशंकर और ताँत्या टोपे ने समझ लिया था कि विद्रोह का अंत पास आ गया है। उन्होंने नाना साहेब को जैसे-तैसे नेपाल में शरण लेने को राज़ी कर लिया। उन दिनों और कुछ विद्रोही सिपाहियों ने चंबल के जंगलों में शरण ले ली थी।

मानसिंह ने गवर्नर जनरल से वादा करा लिया था कि यदि ताँत्या टोपे को जीवित पकड़ लिया जाता है तो मानसिंह को पूरे सम्मान के साथ एक स्वतंत्र राज्य के प्रमुख के तौर पर गद्दी पर बिठा दिया जाएगा। विद्रोह के अनेक नेताओं के प्रति लॉर्ड केनिंग ने उदार नीति अपनाई हुई थी, लेकिन यह मामला ख़तरनाक ताँत्या टोपे का था; जिसने गोरों के प्रभुत्व को सर्वाधिक अपमानित किया था। उनके नेतृत्व में विद्रोह का ख़तरा भी बना हुआ था।

अपने विशिष्ट अदम्य आशावाद के चलते ताँत्या टोपे को अब भी विश्वास था कि नर्मदा पार करके वह नागपुर पहुँच सकते हैं और कुछ हज़ार देशभक्त लड़ाकुओं के साथ स्वतंत्रता के स्वप्न को अब भी साकार किया जा सकता है।

जंगलों में भटकते हुए उमाशंकर का सहायक रियास नदी के तट पर पहुँचता है। वहाँ उसकी मुलाक़ात मानसिंह और उसकी फ़ौज से होती है। मानसिंह रियास को विश्वास दिलाने में सफल होता है कि हडसन की जेल से रिहा होने के बाद अब वह बदला लेने के लिए लड़ाई के रास्ते पर है और ताँत्या टोपे के साथ सहयोग करने को तैयार है। आशावाद की दुसाध्य बीमारी से ग्रसित ताँत्या टोपे उसकी मानसिंह की कहानी पर यक़ीन कर लेते हैं कि उसका दिमाग़ बदल गया है। लेकिन उमाशंकर को बहुत संदेह था। वह अपने ससुर को अच्छी तरह जानते थे। रियास मानसिंह को उन तक ले गया, जहाँ उनके बीच बातचीत हुई। मानसिंह ने अपने कुछ लोगों को निर्देश दे रखे थे कि जंगल में वे चुपचाप उनका पीछा करें, रात गहरी होने तक अँधेरे में इंतज़ार करें और जब वे सब सो जाएँ, उन पर टूट पड़ें। कुछ आवाज़ें सुनकर उमाशंकर जाग जाते हैं और ताँत्या टोपे को उन बहुत सारे सिपाहियों से घिरा पाते हैं, जो रस्सियाँ लिए हैं। वह और रियास दोनों उनके बीच कूद पड़ते हैं, तलवार भाँजते हैं। रियास गिर जाता है। एक हुक्म सुनाई पड़ता है : "मारो नहीं! इनको ज़िन्दा पकड़ो।" यह आवाज़ मानसिंह की थी।

18 अप्रैल, 1859 को दो नायकों के फाँसी के दो तख़्ते खड़े किए जाते हैं।

यह एक असाधारण उपन्यास है। विद्रोह की विफलता के मुख्य कारण के रूप में धर्म के नाम पर परस्पर घृणा, देसी राजाओं में फूट, उनमें राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की अनुपस्थिति, अवसरवाद, अधिकांश शासकों की आत्मकेन्द्रित महत्त्वाकांक्षाएँ, परस्पर विरोध और नफ़रत, और ऐशोआराम को आत्मसम्मान से ऊपर रखने की आम प्रवृत्ति आदि का वर्णन असाधारण अंतर्दृष्टि से किया गया है। प्रतिशोध आदिरूप के तौर पर मानसिंह को सफलतापूर्वक उतारा गया है। गुटों और धार्मिक सोच-विचार से ऊपर उठती हुई दोस्ती, वफ़ादारी और ईमानदारी का वर्णन भी मर्मस्पर्शी और मौलिक ढंग से किया गया है।

एक सुयोग्य प्रशासक के रूप में लेखक को भारी सम्मान प्राप्त था और मलयाळम् के लेखकों में उन्होंने उच्च स्थान अर्जित किया था। स्पष्टतः उपन्यास विभिन्न अभिलेखागारों के दस्तावेज़ों के गहन अध्ययन की देन है और यह राष्ट्रीय सम्मान के योग्य है। आश्चर्य का विषय यह है कि इसे साहित्य अकादेमी पुरस्कार नहीं मिला। अगर इसको यह मिला होता तो अन्य भारतीय भाषाओं में इसका स्वतः ही अनुवाद हो गया होता। इस अवसर पर मैं यह सुझाव देना चाहूँगी कि 'आदान-प्रदान' योजना के अंतर्गत अनुवाद के लिए इसका चयन किया जाए।

एक रासो-लक्ष्मीबाई का

पुरुषोत्तम अग्रवाल

1857 की घटनाओं को कई नज़रियों से देखा गया है। इन घटनाओं के समकालीन टिप्पणीकार कार्ल मार्क्स की दृष्टि में केवल 'सिपाही विद्रोह' न होकर वह "एक राष्ट्रीय विद्रोह की घटनाएँ थीं, और सिपाही इस राष्ट्रीय विद्रोह के औज़ार थे।" यह बात कार्ल मार्क्स ने 28 जुलाई 1857 को लिखी थी। (मार्क्स, एंगेल्स, *दि फ़र्स्ट इंडियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस 1857-59*, मास्को, 1975, पृ. 44) सावरकर ने 1857 की अर्द्धशताब्दी पर लिखी अपनी पुस्तक का शीर्षक ही रखा *1857—दि इंडियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस।*

लेकिन यह रोचक है कि 1922 में प्रकाशित *इंडिया इन ट्रांज़िशन* के मार्क्सवादी लेखक एम. एन. रॉय का 1857 विषयक मूल्यांकन मार्क्स के मूल्यांकन से एकदम विपरीत था। उनके अनुसार यह विद्रोह "सामाजिक प्रतिक्रिया की प्रचंड भावना से उत्पन्न हुआ था। विद्रोह असल में अंग्रेज़ी सरकार के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि उस सरकार द्वारा लाए गए प्रगतिशील सामाजिक-राजनीतिक विचारों के विरुद्ध था।"(स्निग्धा सेन द्वारा उद्धृत, *दि हिस्टीरियोग्राफ़ी ऑफ़ दि इंडियन रिवोल्ट ऑफ़ 1857*, कोलकाता 1992, पृ. 201)

यह भी रोचक है कि 1857 के डेढ़ सौ साल पूरे होने पर हिन्दी के कुछ वामपंथी लेखक 1857 के मूल्यांकन के बारे में कार्ल मार्क्स की तुलना में एम. एन. रॉय के अधिक निकट हैं। सच तो यह है कि पिछले कुछ महीनों में प्रकाशित अनेक विद्वत्तापूर्ण निबंध एम. एन. रॉय के उपर्युक्त कथन के भाष्य हैं। ख़ैर!

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन ने अपने विकास और विस्तार में 1857 के नायकों और नायिकाओं से प्रेरणा ली, यह सच है। स्वाभाविक ही था कि उस विद्रोह के शताब्दी वर्ष के अवसर पर स्वाधीन भारत की सरकार ने 1857 के विद्रोह का उपयुक्त रूप से वस्तुनिष्ठ इतिहास प्रकाशित करने का निश्चय किया। 1957 में प्रकाशित ग्रंथ *अठारह सौ सत्तावन* के आमुख में तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना आज़ाद ने उद्धृत

किया, ''यों तो 1857 के बारे में सैकड़ों किताबें लिखी
है कि 1857 का वस्तुनिष्ठ इतिहास लिखा जाना अभी [illegible]
गई किताबों में से लगभग सभी ब्रिटिश नज़रिये से लिखी गई हैं।''

और 'ब्रिटिश नज़रिये' के बरक्स 'भारतीय नज़रिये' से लिखी गई इस पुस्तक *अठारह सौ सत्तावन* के लेखक सुरेन्द्रनाथ सेन का निष्कर्ष यह था,''धर्म के नाम पर आरंभ हुआ विद्रोह स्वाधीनता संग्राम में बदल गया। इसमें संदेह नहीं कि विद्रोही विदेशी शासन के स्थान पर पुरानी व्यवस्था को वापस करना चाहते थे, जिसका प्रतिनिधि दिल्ली का बादशाह था।'' लेकिन इस स्वाधीनता संग्राम में विद्रोही यदि सफल हो जाते तो? इतिहासकार का दो टूक निष्कर्ष है, ''वे समय का प्रवाह पलट देते। नए सुधारों को समाप्त कर देते।··· वे प्रतिक्रांति चाहते थे।''(सुरेन्द्रनाथ सेन, *अठारह सौ सत्तावन,* दिल्ली, 1957, पृ. 411 और 412-3)

यह तो हुई स्वाधीन भारत के 'नज़रिये' से 1857 को देखने की बात। पाकिस्तान के 'नज़रिये' से भारत में ब्रिटिश राज का रिव्यू कर रहे एस. एम. बर्क़ और सलीम अल-दीन क़ुरैशी का निष्कर्ष भी कुछ ऐसा ही है, ''बीसवीं सदी के कुछ भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा 1857 को स्वाधीनता संग्राम कहना सिवा बेहूदगी के कुछ नहीं है। अगर यह सचमुच स्वाधीनता संग्राम होता तो क्या अंग्रेज़ भारत में टिक पाते।'' (*ब्रिटिश राज इन इंडिया : ए हिस्टॉरिकल रिव्यू,* कराची, 1995)

यानी स्वाधीनता संग्राम वही हो सकता है जो सफल हो! असफलता प्रमाणित करती है कि 1857 राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम या विद्रोह नहीं था। ख़ैर! 1857 के मूल्यांकन संबंधी बहस में हिस्सा लेने की अपनी कोई इच्छा फ़िलहाल नहीं है। केवल इतना रेखांकित करें कि 'नज़रिया' चाहे 'ब्रिटिश' हो, चाहे 'भारतीय' हो या 'पाकिस्तानी', निष्कर्ष लगभग एक-से हैं। कारण यह कि नज़रियों के फ़र्क़ के बावजूद इतिहास लेखन के उपकरण, सरोकार और स्रोत भी एक-से हैं। इन निष्कर्षों पर बात फिर कभी। फ़िलहाल सवाल यह है कि 1857 के समकालीन स्रोत क्या कोई और भी हो सकते हैं? आधुनिक राष्ट्रवाद के 'नैरेटिव' में आने के पहले क्या भारतीय लोकचित्त 1857 को याद करता ही नहीं था? परखता ही नहीं था?

भारतीय लोकचित्त में यदि 1857 की कोई जगह न होती, यदि कुँवर सिंह और लक्ष्मीबाई के लिए लोक स्मृति में कोई स्थान न होता तो मध्यवर्ग द्वारा गढ़े गए राष्ट्रीय आत्मवृत्तांत की कल्पना में 1857 को जगह ही क्यों मिलती? यह एक तथ्य है कि जब आधुनिक भारतीय मध्यवर्ग 1857 की स्मृतियों से अपना दामन बचा रहा था, तब भी लोकचित्त 1857 को याद रखे हुए था। जब सर सैयद अहमद बग़ावत

का सबब यह बता रहे थे कि कंपनी सरकार ने 'दो शत्रु नस्लों—हिन्दू और मुसलमान—की साझा पलटनें बनाकर उनके बीच एकता पनपाने की बेवक़ूफ़ी की' (देखें बर्क और कुरैशी, पृ. 46)। जब भारतेन्दु मंडल के लेखक 1857 के बलवे का कलंक प्रतिष्ठित हिन्दू-मुसलमान पर लगाने को बुद्धिहीनता का प्रमाण बता रहे थे, तब क्या व्यापक लोकचित्त भी 1857 को कलंक की तरह याद कर रहा था?

सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रसिद्ध कविता 'झाँसी की रानी' बीसवीं सदी के दूसरे दशक में लिखी गई। तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम अपना पूर्वाभास 1857 में देख रहा था। बुंदेलखंड का प्रसिद्ध लोकगीत 'झाँसी की रानी' कविता में प्रतिध्वनित हो रहा था—*सिगरे सिपहियन को पेड़ा जलेबी, आप चबाई गुड़ धानी रे। ख़ूब लड़ी मर्दानी वो तो झाँसी वाली रानी रे।* सुभद्रा जी की कविता है—*बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी। ख़ूब लड़ी मरदानी वो झाँसी वाली रानी थी।*

बुंदेले हरबोलों के ये बोल ऐन उस समय गूँज रहे थे, जिस समय हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल आरंभ हो रहा था—लेकिन इस आधुनिक काल का साहित्यिक कैनन 1857 की स्मृतियों से कतरा रहा था। इस समय भी और इस समय का इतिहास लिखते समय भी यह मान लिया गया था कि 1857 हिन्दी क्षेत्र के लोकगीतों तक ही सीमित रह गया था। कारण चाहे भय हो, चाहे 1857 का सैद्धांतिक नकार—लेकिन हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु युग में 1857 की गूँजती हुई अनुपस्थिति ऐतिहासिक सच्चाई है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में, स्वाभाविक रूप से, 1857 की एक नायिका रानी लक्ष्मीबाई का कोई उल्लेख नहीं है। रासो लिखने का सिलसिला, ऐसा मान लिया गया कि सदियों पहले वीरगाथाकाल के साथ समाप्त हो गया। उसके बाद कोई रासो लिखा गया तो वह उल्लेखनीय कैसे हो सकता है? रासो का संबंध लक्ष्मीबाई से हो तो वह हिन्दी साहित्य के कैनन के अनुकूल कैसे हो सकता है?

शायद इसीलिए···हिन्दी साहित्य के इतिहास के ग्रंथों में न तो कल्यान सिंह कुड़रा क़ानूनगो का कोई ज़िक्र है और न उनके *लक्ष्मीबाई रासो* का। नहीं, यह उतना अनुपलब्ध भी नहीं था। जो प्रति मेरे पास है, उसका प्रकाशन वर्ष 1953 है, लेकिन इस रासो की रचना 1869 से पहले हुई थी। 1857 के केवल बारह वर्ष के भीतर-भीतर!

प्रकाशित प्रति में दी गई पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति झाँसी का राइसौ बाई की लराई कौ संपूरन। मिती भादो बदी 2 गुररू संवत 1926 मुकाम दलीप नगर लिख्याँस प्रधान जुगलकिशोर कुड़रा पोथी मजकूर की घरू।"

स्पष्ट है कि जुगलकिशोर कुड़रा की यह 'घरू' पोथी संवत 1926 (1869) में तैयार की गई। ये रासोकार कल्यान सिंह के ख़ानदान से थे—और तत्कालीन दतिया रियासत में 'वकील' के पद पर थे। इस रासो का प्रकाशन सहयोगी प्रकाशन मंदिर, दतिया से 1953 में हुआ। प्रकाशन सूचना के अनुसार 'संग्रहकर्ता' हैं श्री शिवचरण दीक्षित और संपादक हैं हरिमोहन लाल श्रीवास्तव। अपने वक्तव्य में श्रीवास्तव जी कहते हैं :

''वर्णन की निष्पक्षता भी सिद्ध है, क्योंकि झाँसी के रायसौ के रचयिता कल्यान कवि झाँसी दरबार के आश्रित न थे। उनके विषय में जितना थोड़ा ज्ञात हो सका है उसके अनुसार वे दलीपनगर (दतिया) के कायस्थ थे और कानीगो (क़ानूनगो) के पद पर आसीन थे। एक विशिष्ट साहस का परिचय देते हुए शुद्ध देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर इस कवि ने वीरांगना लक्ष्मीबाई को श्रद्धांजलि भेंट की है। दतिया के महाराज विजय बहादुर की अंग्रेज़ भक्ति इतिहास से सिद्ध है। ऐसे नरेश के राज्य में बसकर महारानी लक्ष्मीबाई के रायसौ का निर्माण करना कवि की निर्भीकता और उसके बड़े प्रभाव का ज्वलंत प्रमाण है।''

उपरोक्त को पढ़ते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि कम से कम बुंदेलखंड में विद्रोह न तो उच्च वर्गों तक सीमित था, न उच्च जातियों तक। देवा, जालौन और कुनार तहसीलों के तहसीलदारों ने अगस्त-सितंबर 1858 में इन तहसीलों के गाँवों के 'बाग़ियों' और 'वफ़ादारों' की सूचियाँ तैयार की थीं। इनके अनुसार बाग़ियों में कुरमी, काछी, सेंगर, चमार और बनिया जातियों के बहुतायत लोग शामिल थे। अधिकतम गाँवों के बारे में तहसीलदारों का रिमार्क है—''सभी ने या ज़्यादातर ने बाग़ियों का सशस्त्र रूप से साथ दिया।'' (ताप्ती रॉय, *दि पॉलिटिक्स ऑफ़ अ पॉपुलर अपराइजिंग : बुंदेलखंड इन 1857*—(परिशिष्ट) दिल्ली, 1994. पृ. 250-54)

बहुत से लोगों को लगता है कि '1857 में नैतिकता का सवाल ही नहीं था, ज़्यादतियाँ दोनों तरफ़ से हुईं।' बात ठीक ही है, लेकिन लोकतंत्र में सवाल युद्ध के दौरान की नैतिकता का ही नहीं; 'राजा और प्रजा', कंपनी सरकार और देसी राजाओं के बीच नैतिकता का भी था। कल्यान सिंह क़ानूनगो जैसे रासोकार हों या लोकगीतों के अनाम रचयिता—वे 1857 को जिस 'नज़रिये' से देख रहे थे, वह आधुनिक राष्ट्रवाद का नज़रिया हो न हो, स्वाभाविक देश-प्रेम का नज़रिया अवश्य था। रासो के आरंभ में ही कल्यान सिंह कहते हैं :

छल बल सों झाँसी लई, गंगाधर की नार
ताकौ अब आगे कहत भलीभाँति व्योहार

रासो होने के नाते स्वाभाविक ही है कि कवि का बल युद्ध-वर्णन और लक्ष्मीबाई के पराक्रम पर है। असल में, रासो लक्ष्मीबाई के दो युद्धों का वर्णन करता है। ओरछा के दीवान नत्थे ख़ाँ के विरुद्ध युद्ध में उन्हें जीत मिली और अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध की कथा हम जानते ही हैं। यह और बात है कि जीत से कहीं अधिक मार्मिक काव्यक्षण था—पराजय का क्षण। और उस आसन्न पराजय के सामने लक्ष्मीबाई की निराशा जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही मार्मिक है निराशा के कर्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा! पराजय होनी है और पराजय का अर्थ है—पराधीनता या मृत्यु—कल्यान सिंह उस मार्मिक पल को शब्दों में रचते हैं, जब लक्ष्मीबाई आख़िरी लड़ाई के लिए चलते समय अपना चुनाव करती हैं। कल्यान सिंह की लक्ष्मीबाई को इस समय द्रौपदी याद आती है, और दौपदी को कष्ट से उबारने वाले कृष्ण के साथ-साथ रघुवीर याद आते हैं—

छोड़ तन आसा माल पुलक निरासा कर
वासा के विलासा त्याग मन में विचारिए।
करियो त्यारी अस्त्र बाँधौ रन झारी
चलबे की अब त्यारी को तुरंगहू समारिए॥
जैसे महाकष्ट तैं उबारी पंडु नारी प्रभु
मोए अधिकारी जान अरज उर धारिए॥
धन कौ न छोभ तन कौ न लोभ मो कि
ए हो रघुवीर मेरी लाज न बिगारिए॥

लक्ष्मीबाई परास्त हुईं। लेकिन जहाँ तक 'लाज न बिगारते' का सवाल है; जहाँ तक उनके स्वदेश-प्रेम, पराक्रम और मानवीय गुणों को 'सँभारने' का सवाल है; उनके प्रभु भी कसौटी पर खरे उतरे और बुंदेलखंड के लोग भी। वे चाहे अनाम हरबोले गायक हों, चाहे ग्वालियर के रामानंदी साधु गंगादास हों और चाहे दतिया के कायस्थ कुलोद्भव कवि कल्यान सिंह।

1857 की स्मृति के इन स्रोतों पर थोड़ा व्यवस्थित ध्यान दिया जाए तो शायद विभिन्न 'नज़रियों' से किए गए अध्ययनों की हैरतअंग्रेज़, दिलचस्प समानता से आगे जाकर हम 1857 का नया, अधिक विश्वसनीय पाठ गढ़ सकें—और शायद भारत के सामाजिक इतिहास और उसमें ब्रिटिश हस्तक्षेप के परिणामों का भी।

●●●
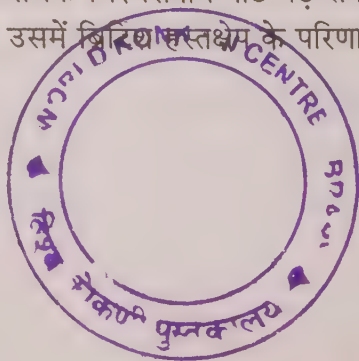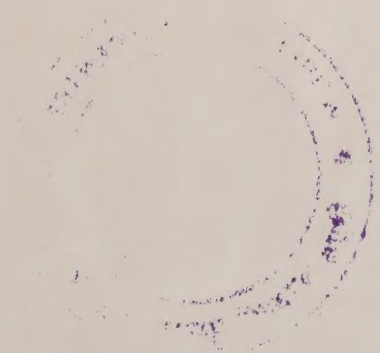
साहित्य अकादेमी

150 वर्ष पहले हुए प्रथम स्वाधीनता संग्राम पर पुनर्विचार करना वस्तुतः अपना ही परिमार्जन करना है और इसके लिए समग्र दृष्टिकोण अपनाना ज़रूरी है। यह इसलिए भी कि स्वाधीनता संग्राम किताबी नहीं होते, पर उन पर विचार बहुधा किताबी अंदाज़ में किया जाता है। ऐसे लोक-संग्राम की आपा-धापी में ऐतिहासिक प्रमाणों को कौन सहेजता? लोक-स्मृति में उसके अंश हैं और साहित्य ने भी उनका पुनर्सृजन किया है। इसलिए पुनर्विचार में इन तीनों स्रोतों को दृष्टिपथ में रखना चाहिए। साहित्य अकादेमी द्वारा 1857 पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़े गए आलेखों के प्रस्तुत चयन में इसी कोण को ध्यान में रखा गया है। देश के प्रसिद्ध इतिहासकारों, विशेषज्ञों और साहित्यकारों के चिन्तन का परिणाम यह पुस्तक अनूठेपन से सज्जित है।

तोड़ो गुलामी की ज़ंजीरें के संपादक **अरुण प्रकाश** (जन्म : 1948, बेगूसराय, बिहार के निपनिया गाँव में) ने जनसंचार में स्नातकोत्तर तथा पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। आप हिन्दी के सुपरिचित कथाकार हैं। आपकी प्रकाशित कृतियाँ हैं— *रक्त के बारे में* (कविता-संग्रह), *भैया एक्सप्रेस, मँझधार किनारे, जलप्रांतर, लाखों के बोल सहे, विषम राग* और *स्वप्नघर* (कहानी-संग्रह) तथा *कोंपल कथा* (उपन्यास)। विभिन्न विषयों की सात पुस्तकों के अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद के अलावा आपने अनेक टेलीफ़िल्मों और वृत्तचित्रों का पटकथा-लेखन भी किया है। *हिन्दी के प्रहरी रामविलास शर्मा* (आलोचना), *चयनम्* (विविध रचनाएँ) तथा *हमारा हिस्सा* (कहानी-संग्रह) आप द्वारा संपादित पुस्तकें हैं। हिन्दी अकादमी, नई दिल्ली तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद सहित अनेक संस्थानों के पुरस्कार-सम्मानों से विभूषित अरुण प्रकाश साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* के संपादक रहे हैं।

आवरण चित्र : ईस्ट इंडिया कंपनी के एक अज्ञात चित्रकार की कृति, जिसमें कंपनी के एक सैनिक और उसकी पत्नी को चित्रित किया गया है।

आवरण आकल्पन : दिलीप कुमार टेलर

ISBN : 978-81-260-2346-2

मूल्य : 80 रुपये